स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : विकास एवं मूल्यांकन

डॉ० सोमनाथ कौल

..."स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी .... में स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी कहानी की पृष्ठभूमि तथा उसके विभिन्न सोपानों पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में नवलेखन अभियान और हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर लेखन की विभिन्न दिशाओं का सम्बन्ध स्थापित किया गया है लेखक ने 'नई कहानी' से लेकर ... 'समांतर कहानी' तक के विकास को बडी प्रभाविकता के साथ प्रदर्शित किया गया है। शिल्प, चिन्तन एवं स्वरूप की दृष्टि से हिन्दी की स्वातंत्र्योत्तर कहानियों का मूल्यांकन वैज्ञानिक पद्धति पर करने का श्रेय 'डॉ कौल' को प्राप्त है।

*... पुस्तक में स्वातंत्र्योत्तर कहानियों के गहन अध्ययन के आधार शिल्प तथा भाषा का विवेचन एवं प्रवृत्तियों का निर्धारण किया गया है। 'सृजन' को बोलने का अवसर देकर ग्रन्थ में वस्तुनिष्ठता का गुण आ गया है।

*... विषय की दृष्टि से पुस्तक में अवधारणात्मक अध्ययन किया गया है जो कि इसको नितांत अभिनय दिशा प्रदान करता है। जम्मू-कश्मीर की प्रतिनिधि रचनाओं का मूल्यांकन करके इस प्रदेश के कहानीकारों को प्रकाश में लाकर पुस्तक का महत्व बढ़ गया है।

रु० 100

Respected Prof B. L. Koul Sahib
with
personal regards.

[signature]
24. 11. 1988
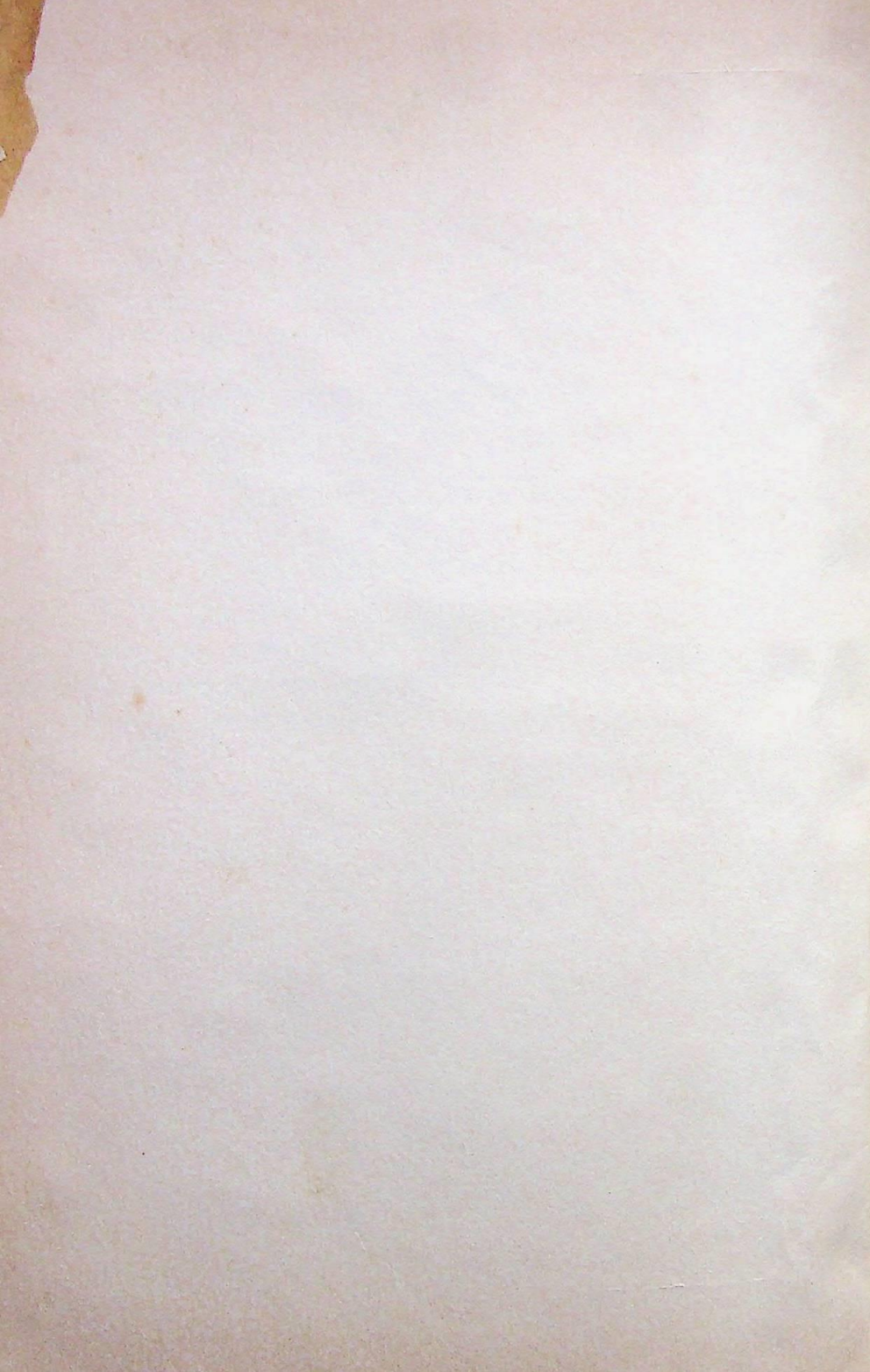
स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी :
विकास एवं मूल्यांकन

डॉ० सोमनाथ कौल
एम०ए०, बी०एड०, पीएच०डी० (कश्मीर विश्वविद्यालय),
निष्णात (केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा)
रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय,
श्रीनगर (कश्मीर)

आर्याना पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली-110012

स्वर्गीय पिता श्री दीनानाथ कौल

तथा

स्वर्गीया माता श्रीमती धनवती कौल

की

पुण्य स्मृति में सादर समर्पित।

विषय-सूची

अभिशंसा

अत्यन्त सुखद अनुभूति के साथ मैं गौरवान्वित अनुभव कर रहा हूँ कि डॉ० सोमनाथ कौल का पी-एच० डी० शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है। ''स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : विकास एवं मूल्यांकन'' शीर्षक से ही शोध-कार्य की प्रासंगिकता प्रमाणित होती है। यह कार्य मेरे निर्देशन में हुआ है इसलिए मैं इसके महत्त्व के सम्बन्ध में स्वयं आश्वस्त हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनका यह ग्रन्थ सुधी पाठकों ओर अनुसंधित्सुओं के लिए काफी लाभप्रद होगा।

जहां तक नवलेखन अभियान और हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर लेखन की विभिन्न दिशाओं एवं दशाओं का सम्बन्ध है डॉ० कौल ने बहुत ही उपयोगी सम्बन्ध स्थापित किया है। नई कहानी से लेकर समान्तर कहानी तक के विकास को बड़ी प्रामाणिकता के साथ प्रदर्शित किया गया है। शिल्प एवं स्वरूप की दृष्टि से हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियों का मूल्यांकन वैज्ञानिक पद्धति पर करने का श्रेय डॉ० कौल को प्राप्त है।

स्वातंत्र्योत्तर कहानी के शिल्प को विश्लेषित करके हिन्दी कहानी की विभिन्न प्रवृत्तिया निर्धारित करने में उन्हें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। यह अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से वहुत आवश्यक था। अभी तक किसी भी विद्वान ने इस ओर ध्यान नहीं दिया था।

विषय की दृष्टि से डॉ० कौल ने जो अवधारणात्मक अध्ययन किया है वह भी नितान्त अभिनव दिशा प्रदान करता है। यहां कहानीकार के जीवन-दर्शन और भोगे हुए यथार्थ का आधार चिंतन बन गया है जो एक समीक्षक की दृष्टि में वड़ा ही उपयोगी तत्त्व है। एक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास जिसकी परोक्षकों ने सराहना की वह है, जम्मू-कश्मीर के प्रतिनिधि कहानीकारों का मूल्यांकन। इससे सम्पूर्ण कथा-लेखन के साथ वैचारिक तथा अनुभूत्यात्मक स्तर की समानता स्थापित हो जाती है।

संक्षेप में जो शोध-परक निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं वे बुद्धिजीवियों के लिए विचारोत्तेजक सिद्ध होंगे ऐसा मेरा विश्वास है। मैं आशा करता हूं कि हिन्दी जगत् इस ग्रन्थ का समुचित स्वागत करेगा।

—प्रो० मुहम्मद अयूब खान
एम० ए० हिन्दी तथा संस्कृत, पी-एच० डी०, डी० लिट्,
आचार्य तथा अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर

प्राक्कथन

हिन्दी कहानी साहित्य-जगत् में अब स्वतंत्र तथा सशक्त विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। सृजन के साथ-साथ हिन्दी कहानी का चिंतन-पक्ष भी आगे बढ़ रहा है। आज की कहानी-आलोचना की एक मुख्य विशिष्टता यह है कि इसका वकील स्वयं कहानी-लेखक भी है। इसका परिणाम यह निकला है कि अब कहानी-आलोचक तथा इसके लेखक में कोई ऐसा द्वंद्व दिखाई नहीं देता जिससे 'कहानी' को समझने में व्यवधान उपस्थित हो। फिर भी 'कहानी' समझने-समझाने के प्रति उपेक्षा का भाव ही अपनाया गया है। उसका बहुत बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती है तथा शिल्प के रूप में आलोचित होती है। वास्तविकता यह है कि संवेदना, शिल्प तथा अन्य दृष्टियों से 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी' (आधुनिक हिन्दी कहानी) इतनी बदल गई है कि उसको 'मनोरंजन', 'बनावट' तथा ऐसे ही दूसरे अवयवों में काटकर विभाजित करके देखा नहीं जा सकता। वस्तुतः 'कहानी' का प्रभाव उसकी समग्रता में है, अवयवों में नहीं। आज की कहानी से मनोरंजन प्राप्त करना अपेक्षणीय नहीं है और न ही उस पर व्यतीत कहानी की तरह शिल्प-सौष्ठव आरोपित किया जा सकता है। इतना ही नहीं, आज की कहानी की जो आलोचना की जा रही है, लगता है कि उससे इसके स्वरूप को समझने में बाधा अधिक और सहायता कम मिली है। इसका कारण यह है कि हिन्दी कहानी के आलोचक ने अपनी ओर से अधिक बोला है और कहानी को कम बोलने दिया है। परिणामस्वरूप कहानी का स्वरूप तथा उसकी लय दब कर रह गई है। इस प्रकार कहानी की आलोचना वस्तुनिष्ठ न होकर व्यक्तिनिष्ठ हो गई है। हमारे कथन का कदापि यह आशय नहीं है कि कहानी-आलोचना का महत्त्व नहीं है बल्कि कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी आलोचना में यदि 'सृजन' को भी बोलने दिया जाए तब कहानी के बिल्कुल नज़दीक होकर देखने का अवसर मिलता तथा उसको समझने-समझाने में काफी सहायता मिलती। लगभग इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों के विकास पर प्रकाश डाला गया है तथा कहानियों का मूल्यांकन किया गया है।

"स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : विकास एवं मूल्यांकन" मेरे पीएच०डी० शोध-प्रबन्ध का परिष्कृत रूप है। पुस्तक में हिन्दी कहानी से सम्बन्धित कई

नवीन तथ्यों को समाविष्ट करके अधुनातन बनाने का प्रयत्न किया गया है। यह हिन्दी की **प्रथम पुस्तक** है जिसमें स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियों का मूल्यांकन करने के साथ-साथ **जम्मू-कश्मीर के कई प्रतिनिधि कहानीकारों** की रचनाओं का मूल्यांकन किया गया है। आशा है कि हमारे इस प्रयास को सराहा जाएगा।

प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाश में लाने का श्रेय मेरे आदरणीय गुरुदेव तथा निर्देशक **डा० मुहम्मद अयूब खान** (प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर) को है। उन्हीं की प्रेरणा तथा उत्साह के फलस्वरूप प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित हो सकी है। अत: उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझता हूं। इस कार्य को सुगम करने में मेरी धर्मपत्नी **कृष्णा** का सहयोग प्रशंसनीय रहा। मेरी पुत्रियां **अर्चना** तथा **अपरना** प्रशंसा की पात्री हैं जिनकी प्यारी शरारतों ने मुझे प्रस कॉपी शीघ्र तैयार करने में सहायता की।

— **सोमनाथ कौल**

श्रीनगर
श्रावण पूर्णमाशी
27 अगस्त, 1988

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवर्तन

(क) सन् 1947 से पूर्व हिन्दी कहानी यात्रा

हिन्दी कहानी के साहित्य का इतिहास लगभग सत्तासी वर्ष का है। इसका आरंभ भारतेन्दु-युग से हुआ किन्तु भारतेन्दु से पूर्व भी हिन्दी के कई कथा-ग्रन्थ लिखे गए जैसे लल्लूलाल का 'प्रेमसागर', सदलमिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान', इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' आदि। कहानी कला की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्व न होने पर भी विकास-क्रम की दृष्टि से इनका महत्व अस्वीकारा नहीं जा सकता। इसके उपरान्त शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने भी कई कहानियां लिखीं जिनमें मौलिकता एवं कल्पना के साथ-साथ कथावस्तु का योग भी रहा है। आगे भारतेन्दु-युग से इस कला का निरन्तर विकास हुआ जिसका अध्ययन निम्नलिखित आयामों में किया जाता है :—

प्रथम आयाम (सन् 1900 से 1915 तक) : हिन्दी खड़ी-बोली कथाओं का मौलिक और सुस्पष्ट रूप हमें इस आयाम में प्राप्त होता है। इसी आयाम में हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ जिनमें मनोरंजक गद्य-शैलियों को अपनाया गया। नव-चेतना एवं राष्ट्रीय भावना के इस युग में कहानी को मानव-जीवन के स्वाभाविक धरातल के निकट आने की प्रेरणा मिली। महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से कई कहानियाँ हिन्दी-जगत् के सामने आई, जिनमें किशोरीलाल की 'इन्दुमती', केशव प्रसाद सिंह की "आपत्तियों का पर्वत", गिरिजादत्त बाजपेयी की 'पति का पवित्र प्रेम' उल्लेखनीय हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल किशोरी लाल कृत 'इन्दुमती' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कृति मानते हैं। वस्तुत: इस पर शैक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक की छाप है, अत: इसे हिन्दी की प्रथम कहानी नहीं माना जा सकता। सन् 1903 में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाश में आई। 'सरस्वती' के माध्यम से कालान्तर में बहुत सी कहानियाँ हिन्दी जगत् के सामने आई जिनमें बंग महिला की 'दुलाईवाली' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कालान्तर में वृन्दावनलाल वर्मा, पण्डित शिवनारायण, मैथिलीशरण गुप्त, राधिकारमण सिंह, 'कौशिक'

तथा दूसरे कहानीकारों की रचनाएं भी हिन्दी-जगत के सामने आईं। इसी आयाम में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अमर कहानी 'उसने कहा था' प्रकाश में आई। वस्तु एवं शिल्प के लिहाज से चुस्त होने के कारण सामान्यत: इसे हिन्दी की प्रथम मौलिक रचना माना जाता है। कुल मिलाकर इस काल ने हिन्दी की कहानी-कला की स्वतंत्र नींव बना दी।

द्वितीय आयाम (सन् 1916—1936 तक) : 'प्रसाद' तथा प्रेमचन्द इस आयाम के दो महत्वपूर्ण स्तंभ हैं। 'प्रसाद' जी का हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में एक व्यापक रूप है। उनमें कवि, नाटककार, उपन्यासकार एवं कहानीकार का अद्भुत मिश्रण है। भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति उनकी कहानियों में मुखरित हुई है। उनकी रचनाओं में आदर्शोन्मुखी कल्पना एवं भावमूलकता की स्पष्ट छाप है। 'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'बिसाती', 'व्रतभंग', 'स्वर्ग के खंडहर' आदि 'प्रसाद' की श्रेष्ठ कहानियों में गिनी जाती हैं। उनकी कहानी कला से प्रभावित होने वाले कहानीकारों में चतुरसेन शास्त्री, रामकृष्ण दास, चंडी प्रसाद हृदयेश, बेचन शर्मा उग्र, विनोदशंकर व्यास, वाचस्पति पाठक आदि मुख्य हैं।

प्रेमचन्द ने दूसरी ओर अपनी कहानियों का निर्माण यथार्थ की भूमि पर किया, जिसके माध्यम से उन्होंने अपने समय की सामाजिक समस्याओं, कुरीतियों, भेद-भाव एवं पीड़ित किसान-वर्ग और मजदूर-वर्ग को अपनी कहानियों का विषय बनाया। आदर्शवाद की मान्यताओं से प्रभावित होने के कारण पहले उन्होंने सुधारवादी कहानियाँ लिखीं, किन्तु अपनी कहानी-कला के विकास के साथ-साथ वे भी यथार्थवादी होते गये। 'पूस की रात', 'कफ़न', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'रानी सारंधा', 'ईदगाह', 'बूढ़ी काकी', 'बड़े घर की बेटी आदि उनकी उल्लेखनीय कहानियों में से हैं। विश्वम्भरनाथ कौशिक, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, वृन्दावनलाल शर्मा आदि प्रेमचन्द-संस्थान के कहानीकारों में गिने जाते हैं।

तृतीय आयाम (सन् 1937 से 1947 तक) : इस आयाम में हिन्दी कहानी-कला और विकसित होने के साथ-साथ पश्चिमी चिन्तन से भी प्रभावित होने लगी। जैनेन्द्र कुमार, 'अज्ञेय', यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उपेन्द्रनाथ अश्क, रांगेय राघव आदि इस आयाम के प्रमुख कहानीकारों में गिने जाते हैं। जैनेन्द्र की कहानियों का मुख्य आधार मनोविज्ञान एवं जीवन-दर्शन है। उनके पात्र विशिष्ट तथा व्यक्तिगत होते हैं तथा उनकी

कला प्रौढ़ है। 'जाह्नवी', 'अपना-अपना भाग्य', 'फांसी', 'वातायन' आदि उनकी श्रेष्ठ कहानियां हैं।

'अज्ञेय' की कहानियों का आधार शुद्ध मनोविज्ञान है। उनकी कहानियों का शिल्प असाधारण तथा अत्यंत पुष्ट है। समाज की अपेक्षा उन्होंने व्यक्ति के चरित्र को उभारा है। 'रोज़', 'छाया', 'विपथगा', 'कोठरी की बात' आदि उनकी उल्लेखनीय कहानियां हैं।

यशपाल ने मार्क्सवादी प्रभाव के अनुरूप सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध करारे व्यंग्य एवं सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया है। साहित्य-प्रसार की अपेक्षा उन पर सिद्धान्त-प्रचार करने का आरोप लगाया गया है, जो कि अक्षरशः सत्य नहीं है। 'पिंजरे की उड़ान', 'अभिशप्त', 'भस्मावृत चिनगारी', 'फूलों का कुर्ता', 'तर्क का जाल', 'धर्मयुद्ध' आदि उनकी ख्याति-प्राप्त कहानियां हैं।

इलाचन्द्र जोशी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कहानीकार हैं। 'फ्रायड' के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त के अनुसार उन्होने अपने चरित्रों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। 'अनाश्रित', 'प्रेम', 'क्रय-विक्रय' आदि उनकी उल्लेखनीय कहानियों में से हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक धरातल को आधार बनाकर स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने का प्रयास किया, जबकि 'अश्क' तथा रांगेय राघव की रचनाओं का स्वर प्रगतिवादी रहा है।

(ख) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी की पृष्ठभूमि (परिस्थितियाँ)

1. राजनैतिक : इस युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना 15 अगस्त, 1947 को देश स्वतंत्र होने एवं भारत-पाक विभाजन की है। भारतीय संविधान सभा ने संविधान कार्य का निर्माण 26 नवम्बर, 1949 में पूरा किया तथा यह 26 जनवरी 1950 को लागू हुआ। इसके अनुसार भारत एक 'सर्वप्रभुत्ता सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य' बना। सन् 1940 से 1950 तक का युग भारत तथा विश्व के लिए उथल-पुथल का युग था। इस दौर में महंगाई और चोरबाजारी जोरों पर थी। भारत में बयालीस की क्रान्ति, बंगाल का अकाल, नाविक विद्रोह, आजाद हिन्द फौजों की हलचलें एवं स्वतंत्रता-प्राप्ति आदि घटनाएं घटीं। भारत-पाक विभाजन के बाद जो दंगे एवं हत्याएं हुई, उनसे नैराश्य की विचित्र स्थिति ने यहां के लोगों को घेरा।

2. सामाजिक एवं आर्थिक : देश-विभाजन के बाद साम्प्रदायिकता की लहर अपनी चरम-सीमा पर पहुंची। इसके अनुसार दंगे-फसाद, आगजनी की

घटनाएं तथा करोड़ों लोगों का वध हुआ। हमारे जीवन में मत्स्य-जीवन की लहर दौड़ गई। यह था आजादी का वरदान जिसके लिए अंग्रेजों के विरुद्ध हमने संघर्ष किया था। सारा समाज अंदर ही अंदर विघटित हो रहा था। मध्य वर्ग की स्थिति निराशामय होती जा रही थी। यह उच्चवर्ग तथा निम्नवर्ग के द्वंद्व में पिसता जा रहा था। इनकी महत्वाकांक्षायें एवं सपने नैराश्य की भावनाओं में परिवर्तित हो गए। महंगाई ने प्रत्येक व्यक्ति की कमर तोड़ी। इस प्रकार स्वतंत्र भारत की परिकल्पित स्वर्णिम तस्वीर 'कैऑस', आपाधापी, दिशाहारा, भटकन और व्यापक अस्थिरता में बदल गई। यह सामान्य भारतीय के लिए मोहभंग की स्थिति थी।

3 साहित्यिक परिस्थितियां तथा नवलेखन अभियान : आज़ादी से पूर्व हिन्दी कहानी का इतिहास सैंतालीस वर्ष से भी अधिक पुराना रहा है। इसके तृतीय आयाम (सन् 1937 से सन् 1947 तक) में ही हिन्दी के कहानीकारों पर पाश्चात्य चिन्तन एवं कहानी-कला का प्रभाव पड़ने लगा था। यह प्रभाव मुख्य रूप से दो प्रकार का था—प्रथम, प्रगतिवाद का प्रभाव तथा दूसरा, मनोविश्लेषण का प्रभाव। इस पर प्रकाश डालने से पूर्व पश्चिम की प्रथम महायुद्धोत्तर साहित्यिक परिस्थितियों पर एक सामान्य दृष्टिपात करना असंगत न होगा।

प्रथम महायुद्ध ने पश्चिम के लोगों की मानसिक संवेदना को गहराई तक झकझोर दिया था। "युद्धजनित भौतिक क्षतियां तो कुछ समय में पूर्ण हो जाती हैं, परन्तु संवेदनात्मक घाव बहुत गहरे होते हैं, और वे जनमानस को साधारणत: और कलाकारों को विशेषत: बहुत दिनों तक आन्दोलित करते रहते हैं।"[1] इस प्रकार प्रथम महायुद्ध की क्षतियों की पूर्ति तो हुई किन्तु धीरे-धीरे लोगों में और विशेषकर साहित्यकारों का आस्थावादी स्वर विघटित होने लगा। अब पश्चिमी लेखकों को और विशेषकर युवा लेखकों को 'मानवतावाद' जैसे प्रश्न पर लिखना कुछ आरोपित-सा जान पड़ा। इस दृष्टि से यूरोप के नये साहित्य का प्रारम्भ लगभग सन् 1930 से होता है। "महायुद्ध जन्य सबसे बड़ा ख़तरा संस्कारहीनता (डिमोरलाइज़ेशन) का वातावरण बराबर गहरा होता जाता था। यूरोपियन मस्तिष्क के इसी संघर्ष ने वहाँ के नवलेखन को जन्म दिया।"[2]

इसी बीच पश्चिम में 'कम्यूनिज्म' का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। युद्ध की विभीषिका ने मनुष्य के अध्यात्म को नष्ट कर दिया था और उन्हें तब

1. हिन्दी नवलेखन—रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० 18।
2. उपरिवत्, पृ० 18।

कम्युनिज़म ही मानव-कल्याण का एकमात्र साधन दिखाई देने लगा। इसके अनुरूप नये लेखकों का काव्यसंकलन 'न्यू सिग्नेचर्स' के नाम से प्रकाशित हुआ, जिसमें प्रगतिवादी चेतना पर आधारित कविताएं सम्मिलित थीं। यह सन् 1932 की बात है। ये नए लेखक युद्धोत्तर विश्रृंखलता के वातावरण में परम्परागत रचना-पद्धतियों को अधूरा समझकर एक नयी दिशा की खोज में चल रहे थे। उन सबों में पुराने के प्रति असन्तोष की भावना थी।

"न्यू सिग्नेचर्स" के प्रकाशन के एक वर्ष बाद एक और संकलन 'न्यू कंट्री' नाम से प्रकाशित हुआ, जिसमें गद्य रचनाओं का समावेश था। 'न्यू सिग्नेचर्स' की तरह इसमें भी अंग्रेजी-साहित्य के प्रति प्रतिक्रियाएं दिखाई गईं। इन दोनों संकलनों की यह विशेषता थी कि यहां बौद्धिक दृष्टिकोण का प्राधान्य दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त यूरोपीय तथा अंग्रेजी नवलेखन को विकसित करने में जॉन लेमन का हाथ रहा। 'न्यू राइटिंग", "न्यू राइटिंग एण्ड डेलाइट' तथा "पेंग्विन न्यू राइटिंग" द्वारा उन्होने इस नवलेखन के आन्दोलन को एक सूत्रता प्रदान की।

नव-लेखन का अभियान दूसरे देशों में सन् 1941 से प्रारम्भ हुआ जबकि भारत में सन् 1943 में इसका सूत्रपात "तारसप्तक" के संकलन के माध्यम से होता है। "तारसप्तक" में जो रचनाएं संकलित हैं, उनमें प्रगति-चेतना का उद्‌बोधन है। हिन्दी की कहानी-यात्रा के इस आयाम में जो कहानियां लिखी गईं, उन्होंने मार्क्सवाद के प्रभाव को स्पष्ट रूप से ग्रहण किया है। इस युग के प्रगतिवादी कहानीकारों ने अपनी रचनाओं में जहां एक ओर राष्ट्रीय-चेतना को उजागर किया है,[1] वहां दूसरी ओर इनकी थीम 'समाज के कटु सत्य का दिग्दर्शन'[2] कराने के अतिरिक्त 'पुरातन के प्रति विद्रोह'[3] करने की भी रही है। इन कहानियों में जहां कथा की नवीन भूमियां हैं, वहां दूसरी ओर शिल्पगत स्तर के नवीन प्रयोग हुए हैं। हां, यह ज़रूर है कि विषय-वस्तु के चयन में यह नवलेखन प्रगतिवाद के निकट है, और शिल्प-विधान के क्षेत्र में उसने प्रयोगवाद से अधिक प्रेरणा ग्रहण कर ली है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इंगलैण्ड की आर्थिक दशा बहुत ही विकट हुई। उन्हें अपने देशों, जैसे भारत, पर और नए कर लगाने पड़े। इधर, भारत में राजनैतिक जागरण के कारण आज़ाद होने की लहर तेज होती जा रही थी।

1. 'अभियोग'—अमृतराय दे० लाल धरती, पृ० 111।
2. 'अन्नदाता'—कृष्णचन्दर दे० अन्नदाता संग्रह, पृ० 10।
3. 'विपथगा'—अज्ञेय, अमरवल्लरी और अन्य कहानियां, पृ० 73।

अब साम्राज्यवाद के पतन के संकेत स्पष्ट होते जा रहे थे। सन् 1942 में साम्राज्यवाद के विरुद्ध जो आवाज़ उठाई गई थी, सन् 1947 में उसका शुभ परिणाम यह निकला कि भारत अंतत: शताब्दियों के बाद गुलामी की जंजीरों से सदैव के लिए मुक्त हुआ।

यह सन् 1947 से पूर्व की हिन्दी-कहानी का एक रुख था। दूसरी ओर 'फ़ायड' तथा अन्य विचारकों की मान्यताओं से प्रभावित होकर इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय तथा दूसरे कहानीकारों ने अपने पात्रों की मानसिक भावनाओं का मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के अनुसार सूक्ष्म एवं गहरा अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने ऐसे पात्रों को चुना जो प्राय. पतनोन्मुख मध्य वर्ग से संबंध रखते थे। मनोविश्लेषणवादी लेखक इस चिंतन के अनुरूप ही किसी घटना के बीच पात्र के गहन आत्ममंथन का संयोजन करके कहानी का निर्माण करते थे। ये पात्र सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त दिखाई देते हैं, इसलिए उनकी समस्या न सामाजिक ही हुआ करती थी और न ही वैचारिक, बल्कि ये पात्र मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों के शिकार दिखाई देते हैं। समाज के प्रति आरम्भ से अन्त तक उनका दृष्टिकोण उदास दिखाई देता है।

मनोविज्ञान का अधिक आश्रय लेने के कारण तथा स्वप्न-सिद्धान्त के कुछ सूत्रों को लेकर इन कहानियों में कथानक का ह्रास दिखाई देता है और कथ्य ही कहानियों पर छाया रहता है। ऐसी कहानियों में यथास्थान शैली कभी आत्मकथात्मक रही है और कभी ऐतिहासिक। इसके अतिरिक्त यहां कहीं-कहीं प्रतीकों एवं संकेतों का आश्रय भी लिया गया है।

वास्तव में स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व का युग (प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी कहानी—यात्रा का तृतीय आयाम) न केवल भारत के लिए अपितु विश्व के लिए उथल-पुथल का जमाना था। अब तक विश्व दो महायुद्धों की विभीषिकाओं से गुजरा था, जिसका प्रत्यक्ष शिकार यूरोप तथा ऐसे ही दूसरे देश हो चुके थे। भारत जैसा देश विश्वयुद्धों की विभीषिकाओं से भले अप्रत्यक्ष रूप से ही प्रभावित हुआ हो, किन्तु यहां की अपनी परिस्थितियां कम दारुण एवं निराशामय नहीं थीं। विश्व के कई देशों को छ: वर्षों तक चलते युद्ध की क्रूरताओं को सहन करना पड़ा, तो भारत में बयालिस का विप्लव, बंगाल का अकाल, नाविक विद्रोह, स्वतंत्रता, दंगे, शरणार्थियों के काफिले और राजनैतिक पार्टियों की आपाधापी आदि सभी कुछ एक के बाद एक इस तरह आते चले गये कि "व्यक्ति मन के धरातल पर उस सबका समाहार कथाकार के लिए

असम्भव हो गया।"[1] परिणामस्वरूप इन परिस्थितियों में एक साहित्यकार की दृष्टि बदलती सतह पर ही टिकी रही और वह शब्दचित्र 'स्कैच' या 'रिपोर्ताज़' के आगे नहीं बढ़ पाया। मूलत: वह युग, नयी कहानी के आलोचकों एवं रचनाकारों की दृष्टि से, नारों और भाषणों का था। इसके अनुरूप ही तत्कालीन साहित्य की "हर विधा में आवेश, उत्साह और आग की लपटों के साथ अंधाधुन्ध शब्दों का लावा फूटता था। हर वस्तु को देखने का कोण व्यक्ति न होकर भीड़ के आशावाद यानी मौरेल—को बनाए रखने के लिए हर दूसरे वाक्य में नया सूरज निकाल दिया जाता था।"[2]

नयी कहानी के रचनाकार-समीक्षक के कथन से यही स्पष्ट होता है कि सन् 1947 से पूर्व के तृतीय आयाम में जिस हिन्दी-कहानी की सर्जना की गई, वहां व्यक्ति के महत्व को हर जगह उपेक्षित किया गया। प्रगतिवादी कहानीकारों ने उस जमाने में विवेक, संतुलन, मानवता और सद्भावना को बनाए रखने का उत्तरदायित्व तो ले लिया, किन्तु एक अलग माइने में। प्रगतिवाद की मान्यताओं के अनुसार उनका व्यक्ति जीवन की भीड़ में खोया हुआ है। इन कहानीकारों पर तत्कालीन उर्दू-पंजाबी के लेखकों के रोमांटिक यथार्थवाद का प्रभाव पड़ा है।[3] फिर भी रांगेय राघव (तुफानों के बीच), अमृत राय (लाल धरती), भगवतशरण उपाध्याय (इतिहास के पन्नों पर खून के धब्बे) तथा ऐसे ही दूसरे रचनाकारों ने सामाजिक यथार्थ की तीक्ष्ण अभिव्यंजना की, यद्यपि ये कहानियां 'रिपोर्ताजनुमा' कहानियां ही थीं।"[4]

इसके अतिरिक्त यशपाल, अमृतलाल नागर, उपेन्द्र नाथ अश्क, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, तेजनारायण चौधरी तथा ऐसे ही अन्य लेखकों ने वर्ग-चेतना चरित्रों की सृष्टि की। ये कहानियां प्रायः समस्यामूलक होती थीं। प्रगतिवादी

---

1. नयी कहानी—दशा, दिशा संभावना—संपादक श्री सुरेन्द्र, पृ० 73।
2. उपरिवत्; पृ० 73।
3. "वारिस शाह से सवाल पूछती हुई कभी अमृता प्रीतम की करुण 'डाक' सुनाई देती है तो कभी मंटों की कहानी 'टोबाटेक सिंह' चर्चा का विषय बन जाती है। कभी अब्बास के 'सरदार जी' लोगों की नींद हराम करते हैं, तो कभी राजेन्द्र सिंह बेदी की 'लाजवन्ती' कहानी-कला का नया मानदंड स्थापित करती है।"

—कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव, पृ० 37।
4. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य— सं० डॉ० महेन्द्र भटनागर, पृ० 33।

कहानियों के अनुरूप ही उनकी कहानियां हमें धार्मिक रूढ़ता, पुराने एवं नवीन विचारों वाले व्यक्तियों का द्वंद्व, रिश्वतखोरी की समस्या, आर्थिक दरिद्रता तथा ऐसी ही दूसरी समस्याओं से अवगत कराती हैं।

इस तरह प्रगतिशील कथाकारों ने सामाजिक विकृतियों, गर्हितताओं आदि का चित्रण मार्क्सवादी दर्शन की पीठिका में किया। इन कहानीकारों की रचनाओं को स्थूल प्रगतिशील सिद्धांतों पर आधारित होने के कारण प्रतिक्रियावादी रचनाएं होने का आरोप लगाया जाता है। नवचेतना के स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों का कथन है कि इन्होंने साहित्य-प्रसार की अपेक्षा सिद्धांत-प्रचार किया। उनके अनुसार ही कहानी की अपेक्षा उन्होंने 'रिपोर्ताज़' लिखे हैं, जिनमें सृजन कम और लेखक का आवेश अधिक है। शिल्प के लिहाज से भी स्वातंत्र्योत्तर रचनाकार एवं आलोचक इन रचनाओं को श्रेष्ठ नहीं मानते।

दूसरी ओर व्यक्तिवादी कहानीकार अपने समय के व्यापक सन्दर्भों से उदास होकर अपने पात्रों के अंतस में प्रवेश करके मन की गुत्थियों को सुलझाने में लगा हुआ था और वह भी कहानी का सृजन करने की अपेक्षा केस-हिस्ट्री बना रहा था। "अतः आजादी के बाद जब नव-लेखकों की दिशा एवं दृष्टि में अमूलाग्र परिवर्तन आया, इन प्रगतिवादी एवं व्यक्तिवादी कहानीकारों के नारे थकते दिखाई देने लगे और उनका साहित्यिक स्वर निष्प्राण एवं आत्म-वंचनापूर्ण लगने लगता है।"[1]

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी, जिसे हम नयी कहानी के नाम से जानते हैं, का सूत्रपात 1950 से होता हैं। ये कहानियां संवेदना, शिल्प एवं दृष्टि के लिहाज से एकदम नयी हैं। नयी कहानी के रचनाकारों ने कहानी के क्षेत्र में मौलिक प्रयोग किये हैं और व्यतीत कहानी से यह इतनी अलग दिखाई दी कि आलोचकों को इसे नए नाम से अभिहित करने की आवश्यकता महसूस हुई। चिंतन के धरातल पर इन कहानीकारों ने पश्चिम के द्वितीय विश्व-युद्धोत्तर प्रतिभाओं से प्रेरणाएं ग्रहण की हैं, जिनमें से सार्त्र, कामू, हेमिंग्वे, कीर्कगार्द, नीत्शे तथा ऐसे ही दूसरे लेखकों के नाम गिने जा सकते हैं। कला के स्तर पर 'नयी कहानी' के रचनाकारों ने परम्परागत हिन्दी कहानी-कला का भी विरोध किया। इन्होंने न प्रगतिवादी नारों के आधार पर मार्क्सवाद की ही अभिव्यंजना की और न ही विशुद्ध रूप से पात्रों के मन में प्रवेश करके 'केस-हिस्ट्री' ही तैयार की। दूसरे शब्दों में उन्होंने 'हिन्दी-कहानी' को उस

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य—सं० डॉ० महेन्द्र भटनागर, पृ० 29।

परम्परा से जोड़कर विकसित किया, जो परम्परा हिन्दी कहानी के जगत् में प्रेमचंद ने स्थापित की थी। इस बात की पुष्टि स्वयं नयी कहानी के आंदोलक कमलेश्वर भी करते हैं।[1]

हिन्दी की नयी कहानी ने प्रयत्नपूर्वक दो-एक दिशाएं ग्रहण कीं। एक ओर फणीश्वरनाथ 'रेणु', मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, लक्ष्मीनारायण लाल, केशवप्रसाद मिश्र तथा ऐसे ही दूसरे कलाकारों ने कहानी के आंचलिक रूप को उभारा तो दूसरी ओर राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती तथा ऐसे ही अन्य अनेक कहानीकारों ने नागरिक जीवन के कुछ पहलू प्रस्तुत किए। इस संदर्भ में कमलेश्वर का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने 'नयी कहानी' के क्षेत्र में मौलिक प्रयोग किए हैं एवं नवीन भावभूमियों को प्रस्तुत किया है।

उपरोक्त कहानी-लेखकों के अतिरिक्त जो दूसरे नवीन लेखक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी जगत् के सामने आए, उनमें अमरकान्त, शेखर जोशी, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा, ओंकारनाथ श्रीवास्तव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भी नवलेखन को एक निश्चित दिशा देकर इसकी जड़ें सुदृढ़ कीं। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी (नयी कहानी) आगे कई महत्वपूर्ण मोड़ों से गुज़रकर निरंतर विकसित होती गई।

(ग) निष्कर्ष

सन् 1947 तक हिन्दी-कहानी का इतिहास लगभग 47 वर्ष पुराना हो चुका था। इस अल्पविधि में भी वह कई महत्वपूर्ण आयामों से गुज़री। इसका प्रथम आयाम हिन्दी कहानी का आविर्भाव युग था, किन्तु इसमें भी हमें 'गुलेरी' जी की 'उसने कहा था' जैसी श्रेष्ठ कहानी मिलती है। इस आयाम को कई आलोचकों ने आविर्भाव[2] युग के नाम से भी अभिहित किया है, जो कि उचित ही है।

द्वितीय आयाम में हिन्दी कहानी कल्पना आदि का कुहासा छोड़कर जीवन एवं यथार्थ के समीप आने लगी। इस आयाम में 'वस्तु' के साथ-साथ कहानी के शिल्प में भी निखार आया। इस युग में कहानी का इतना विस्तार

1. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर, पृ० 40।
2. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० 34।

हुआ कि इसे हिन्दी कहानियों का 'क्रान्ति युग'[1] कहा गया है।

तृतीय आयाम तक आते-आते हिन्दी के कहानीकारों पर पाश्चात्य चिंतन का प्रभाव पड़ने लगा था। यह प्रभाव मुख्य रूप से 'फ्रायड' तथा 'मार्क्स' का था। वास्तव में इन दो चिंतकों का प्रभाव प्रस्तुत आयाम के रचियताओं पर इतना पड़ा कि स्वातंत्र्योत्तर रचनाकारों ने उन पर यह आरोप लगाया है कि साहित्य-प्रसार की अपेक्षा उन्होंने सिद्धांत-प्रचार किया। यह आरोप प्राय: प्रगतिवादी रचनाकारों पर लगाया गया है, जबकि मनोविश्लेषणवादी कहानीकारों पर यह आरोप लगाया जाता है कि समाज के उत्तरदायित्व से वे इतने तटस्थ हो गए कि वे अपने पात्र के मन से बाहर ही न निकले। इसलिए 'नयी कहानी' के आलोचकों एवं रचनाकार-समीक्षकों जैसे राजेन्द्र यादव, नामवरसिंह, श्रीपत राय आदि का कथन है कि हिन्दी-कहानी का गतिरोध इसी आयाम में हुआ। उनके अनुसार इस युग में ऐसी परिस्थितियां ही थीं कि हिन्दी कहानी 'स्कैच' या 'रिपोर्ताज़' से आगे कुछ न बन पाई। इस संदर्भ में यहाँ इतना कहना ही समीचीन दिखाई देता है कि इस आयाम में भी कई कहानीकारों ने जैसे 'अज्ञेय', 'यशपाल' आदि ने ऐसी रचनाएं लिखीं जो कि हिन्दी-कहानी के साहित्य की अमूल्य निधियां हैं। इतना ही नहीं, इस युग में हिन्दी-कहानी शैली की दृष्टि से भी विकासोन्मुख हुई। अब तक इसने जहां हमें 'उसने कहा था', 'आकाशदीप', 'पुरस्कार' और 'पंचपरमेश्वर' जैसी कहानियों से परिचय कराया था, वहां दूसरी ओर 'कफन', 'पूस की रात' और 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी यथार्थपरक एवं सशक्त कहानियां हिन्दी-कहानी के रचनाकार लिख चुके थे। ये रचनाएं आज भी अपना महत्व नहीं खो चुकी हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य दृष्टियों से सन्तोषजनक नहीं था। आज़ादी से पूर्व एक सामान्य भारतीय ने स्वतंत्र भारत की जो स्वर्णिम तस्वीर परिकल्पित की थी, वह उसके वास्तविक भारत से कोई मेल नहीं खाती थी। फलत: उसकी आशाओं पर पानी फिर गया और उसके मानस में तीव्र विसंगतियों ने जन्म लिया। "आजाद भारत के मनुष्य ने देखा कि वह विभाजन जनित 'कैऑस' की भयावहता से घिरा है। उसकी सभी मान्यतायें और आस्थायें तेज़ी से टूट रही हैं और एक विश्वासहीनता की स्थिति पुर्निवार हो उठी है। यह एक भयानक मोहभंग की स्थिति थी। तत्कालीन भारतीय परिवेश राजनैतिक स्तर पर खूब सम्पन्न किया गया।

1. हिन्दी कहानी—उद्भव और विकास—डॉ० सुरेश सिन्हा, पृ० 191।

किन्तु स्वातंत्र्योत्तर भारत के नये मनुष्य को लगा कि इस सारे कोलाहल, सम्पन्नता, भव्यता और प्रगति के आंकड़ों के मध्य वह कहीं भी नहीं है। वह एक निर्वासित व्यक्ति है।"[1]

वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी ने इसी पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में आगे अपना कदम रखा।

1. 'कहानी' : प्रसन्न कुमार ओझा दे० स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : सं० डॉ० महेन्द्र भटनागर, पृ० 29।

द्वितीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी के विभिन्न आयामों का सामान्य परिचय

(क) प्रथम आयाम : प्रगतिवादी कहानी (सन् 1947 से 1949 तक)

1. प्रगतिवादी कहानियों में युग-दशा का वर्णन : प्रथम अध्याय में ही इस बात की ओर संकेत किया गया है कि लगभग सन् 1942-43 में ही नव-लेखन का अभियान हिन्दी साहित्य में शुरू हुआ था। सन् '47 से पूर्व ही 'प्रगतिवादी' एवं 'मनोविश्लेषणात्मक' चेतना पर आधारित हिन्दी की कहानियों का सूत्रपात कब का हो चुका था। यशपाल, रांगेय राघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतराय तथा अन्य प्रगतिवादी कहानीकारों ने हिन्दी-कहानी साहित्य को उच्च कोटि की रचनाएं प्रदान की थीं, तो दूसरी ओर इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय तथा दूसरे रचनाकारों ने मनोविश्लेषण की पृष्ठभूमि पर आधारित हिन्दी रचनाएं प्रस्तुत कीं।

कहना न होगा कि स्वातंत्र्योत्तर दो-ढाई वर्षों में भी हिन्दी कहानी के जगत् में प्रगतिवाद का नारा चलता रहा, यद्यपि यह इसका समापन काल था। चूंकि स्वातंत्र्योत्तर काल में विभिन्न परिस्थितियों में आमूलाग्र परिवर्तन आए, जीवन की दृष्टि बदली, इसलिए नई कहानी के रचनाकारों ने नवीन भाव-बोध एवं शिल्प के आधार पर अपनी कहानियों की सर्जना की। बदलती परिस्थितियों एवं नवीन जीवन-दृष्टि में आजादी के बाद प्रगतिवादी कहानी साहित्य का नारा थका हुआ, निष्प्राण एवं आत्मवंचनापूर्ण दिखाई देने लगा।[1] किन्तु इसका मतलब कदापि यह न लिया जाए कि 'प्रगतिवादी कहानी' का महत्व प्रस्तुत प्रबन्ध के लिए कुछ नहीं है। इसका यहां उल्लेख करना दो दृष्टियों से आवश्यक है। पहली बात यह है कि आजादी के बाद भी प्रगतिवादी स्वर दो-ढाई वर्षों तक छाया रहा और दूसरे, प्रगतिवादी कहानियों का उल्लेख करने से हमें 'नई कहानी' की पृष्ठभूमि एवं उसके पूर्व के साहित्य का परिचय हो जाएगा।

---

1. स्वातंत्र्योत्तर कहानी साहित्य—सं० डॉ० महेन्द्र भटनागर, पृ० 29।

इस प्रकार प्रस्तुत आयाम में यह देखने का प्रयत्न किया जाएगा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद प्रगतिवादी कहानियों का 'विषय' आदि क्या रहा ? आज़ादी के बाद भारत की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य परिस्थितियां अस्त-व्यस्त हो गई, देश-विभाजन एवं साम्प्रदायिकता की विभीषिकाओं से लोग घिरे हुए थे, प्रगतिवादी कहानी ने इन बातों का चित्रण यथार्थ की भूमि पर किया है। उस समय जैसी सामाजिक एवं अन्य परिस्थितियां थीं, प्रगतिवादी कहानीकारों ने उसके अनुरूप ही अपनी रचनाओं में प्राण भर दिए। इन रचनाओं में हमें समसामयिक, सामाजिक-राजनैतिक उथल-पुथल तथा अन्य बातों का चित्रण ही प्रमुख रूप से दिखाई देता है। रांगेय राघव की 'तुफानों के बीच', अमृत राय की 'लाल धरती' और भगवतशरण उपाध्याय की 'इतिहास के पन्नों पर खून के धब्बे' जैसी रचनाएं प्रस्तुत की गई। कहानियों के इन शीर्षकों से ही प्रतीत होता है कि इनमें देश-विभाजन-जनित विभीषिका तथा विसंगतियां प्रकट हुई हैं।

स्वतंत्रता का मूल्य जानने वाले ये प्रगतिवादी कहानीकार अब देशवासियों में राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाने लगे। इन कहानीकारों ने अपनी कहानियों के द्वारा आजादी के महत्व को समझाया। ये प्रयत्न तत्कालीन शासक-वर्ग को राजद्रोह प्रतीत होते थे। इस कारण आज़ादी के लिए संग्राम करने वाले व्यक्तियों को कारावास में बंद कर दिया जाता था। वहां पहुंचने पर भारतीय जनता की असंतोष और विरोध की भावना और भी तीव्र हो जाती थी। अतः जो अपराधी प्रमुखतया श्रमिक वर्ग के होते थे, वे मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण अपने कारावास कक्षों में 'हंसिए' और 'हथोड़े' के चिन्ह बनाकर अपने विचारों और उद्देश्यों को प्रतीकार्थ रूप में प्रकट करते थे।[1]

प्रगतिवादी कहानीकार मार्क्सवादी दर्शन एवं दृष्टि से प्रभावित है, इसलिए वह अपनी वाणी सर्वहारा वर्ग, जिसमें श्रमजीवी, मजदूर तथा और लोग आते हैं, के पास पहुंचने के लिए अधीर दिखाई देता है। उसका विश्वास है कि इन लोगों के जागने से समाज तथा राष्ट्र का कल्याण एवं उद्धार हो सकता है। इसलिए वह इन्हीं वर्गों के पात्र अपनी कहानियों में चुनता है। 'खुदा की मदद'[2] में श्रमिक वर्ग अपने विचारों की अभिव्यक्ति दीवारों, मार्गों तथा अन्य स्थानों पर छोटी-छोटी सूक्तियों के माध्यम से लिखकर किया करते

1. 'अभियोग'—अमृतराय दे० लाल धरती, पृ० 111।
2. 'खुदा की मदद'—यशपाल दे० फूलों का कुर्ता, पृ० 54।

थे। धन की कमी के कारण वे मुद्रण-कला का उपयोग करने में असमर्थ होते थे, अत: गारा, चूना तथा अन्य पदार्थों का उपयोग करके वे अपने भावों की अभिव्यंजना करते थे।

इस सबकी प्राप्ति के लिए श्रमिक-वर्ग को संगठन का निर्माण करना पड़ता था। अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने तथा सफलता पाने हेतु उन्हें शोषक-वर्ग के नियमों का उल्लंघन एवं डटकर विरोध करना पड़ता था। धीरे-धीरे यह विकसित होकर क्रान्ति बन जाती है।[1] इस प्रकार श्रमिकों के संगठन से क्रान्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना एक प्रगतिवादी लेखक का काम रहा है।

जब सर्वहारा वर्ग एकत्रित एवं संगठित होता है, तब ही शोषित शोषकों एवं शासन चलाने वालों के प्रति अपना तीव्र आक्रोश प्रकट कर सकते हैं। उन्हें संगठित रहने के लिए अथक प्रयास करने पड़ते हैं। शासक एवं शोषित-वर्ग का विरोध करने के लिए उन्हें बहुत कुछ करना पड़ता है। वे हड़तालें करते हैं, जो कि उनका एक सशक्त सम्बल है। वे जानते हैं कि दैनिक जीवन की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए समस्त उपयोगी सामग्री का उत्पादन श्रमिक ही करता है, इसीलिए "डाक्टर"[2] में वह चाहता है कि आधुनिक सामाजिक व्यवस्था एवं विधान पर श्रमिक-वर्ग का नियंत्रण हो, जिसमें न कोई शासक और न ही कोई शासित हो। समस्त व्यक्ति समान हों। व्यष्टि-हित समष्टि में पर्यवसित हो जाए।

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिवादी कहानीकार ने जहां तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक-आर्थिक तथा अन्य समसामयिक परिस्थितियों का चित्रण

---

1. "व्यक्ति की मान्यतायें एवं धारणायें समष्टिगत हो जाती हैं—अनेकों का लाभ ही सबका उद्देश्य बन जाता है। शोषित वर्ग कभी अपने को अपराधी नहीं स्वीकार करता। अपराध एवं विरोधात्मक प्रवृत्ति की ओर उन्मुख करने का उत्तरदायित्व शोषक वर्ग की नीति पर ही है। वस्तुत: पूंजीपति अथवा समाज का शोषक वर्ग ही अपराधी है जो श्रमिकों को इतना वेतन भी नहीं देता है कि श्रमिक अपना तथा अपने परिवार का भली प्रकार पालन-पोषण कर सके।"

—अमृतराय --तेलंगाना के वीरों से—पृ० 124 (दे० प्रेमचन्दोत्तर कहानी साहित्य—डॉ० राधेश्याम गुप्त, पृ०133)।

2. **धर्मयुद्ध—यशपाल, पृ० 118।**

किया है, वहां दूसरी ओर वह मार्क्सवादी मान्यताओं के अनुरूप राष्ट्रीय-भावना को उकेर देता है। यहां इस बात का उल्लेख करना असंगत न होगा कि एक व्यक्ति का अपने देश के प्रति, वहां के रहन सहन, वेश-भूषा आदि के प्रति जो प्रेम होता है, वह राष्ट्र-प्रेम अथवा देश-प्रेम कहलाता है। राष्ट्रीयता का स्वरूप किसी व्यक्ति की विचारधारा पर अवलम्बित है। यदि कोई व्यक्ति साम्यवाद की मान्यताओं से प्रभावित है तो वह अपनी राष्ट्रीयता का प्रकटीकरण उसी तरह करेगा, जिस तरह ऊपर उद्धृत कहानियों में दिखाया गया है।

2. **प्रगतिवादी कहानियां : पुरातन के प्रति विद्रोह :** स्वातंत्र्योत्तर काल में भी प्रगतिवादी कहानीकारों ने पुरातन के प्रति विद्रोह की चिंगारी भड़कायी है। इन कहानीकारों में भावना की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य है। अन्याय के प्रति विद्रोह का अंकन इस साहित्य का मुख्य विषय है। इस वाद का आधार-स्तम्भ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' है, जिसमें अर्थ के अस्तित्व का विशेष महत्व होने के कारण आर्थिक विषमता के प्रति विद्रोह का चित्रण इन कहानियों में उपलब्ध होता है। इन कहानियों में सामान्य मानव को स्थान दिया गया जिसकी पहले उपेक्षा की गई थी। आर्थिक विषमताओं से पीड़ित सामान्य श्रमजीवी, कृषक तथा अन्य वर्गों के चित्रण भी इन रचनाओं में किए गए हैं।[1]

इन कहानियों में सामन्तवाद के प्रति पूर्ण विद्रोह, विलासमय जीवन के प्रति घृणा तथा श्रमिक के परिश्रम के प्रति श्रद्धा के भाव जागृत करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रगतिवादी कहानियां अब तक सामान्य मानव के प्रति की जाने वाली उपेक्षा पर प्रहार करती आ रही हैं। समाज की प्राचीन परम्पराओं एवं रूढ़ियों का, जिनका मानव दास था, उन्मूलन करने का संदेश इस साहित्य ने दिया है।

---

1. "उसे अपनी स्थिति से जागरूक कर उन्नति की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रगतिशील साहित्य ने दी। इसी कारण जहां पीड़ित समाज की पतित अवस्था का वर्णन है, वहां यह साहित्य करुणार्द्र है, एवं जहां उसके स्वर में परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया है, वहां विरोध एवं विद्रोह का रूप अंकित किया गया है......।"

—प्रेमचन्दोत्तर कहानी साहित्य—डॉ० राधेश्याम गुप्त, पृ० 136।

इन्हीं प्राचीन परम्पराओं एवं रूढ़ियों में परिवर्तन प्रस्तुत करने के कारण मानव के विचारों में भी परिवर्तन करना आवश्यक हो गया था।

एक प्रगतिवादी कहानीकार ने समाज की पुरातन गतिविधियों को आज के युग की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं समझा। अत: आधुनिक विचारक एवं चिन्तनशील मानव इनसे सामंजस्य स्थापित करने के लिये तैयार नहीं होता है। पुरातन परम्पराएं, धार्मिक अंधविश्वास एवं पारस्परिक संबंध उसके भरपेट भोजन का भी प्रबंध न कर सके। श्रमिक को अपने परिश्रम के अनुपात में वेतन प्राप्ति की इच्छा पर अपने स्वामी से दुर्व्यवहार के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। आर्थिक विषमता के तले दबता हुआ उसकी दशा क्षीण से क्षीणतर होती गई। इसने विद्रोह की चिंगारी तेज़ कर दी और एक दिन वह क्रान्ति का बीड़ा उठाने लगा। प्रगतिवाद के अनुसार क्रान्ति आने पर सचमुच एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है जिसका प्रभाव उसके 'समर्थकों' एवं 'विरोधियो' दोनों पर पड़ता है।[1]

धर्मवीर भारती की एक कहानी 'भूखा ईश्वर' में भी कहानीकार ने पुरातन के प्रति तीव्र विद्रोह की आवाज़ को भड़काया है। यदि एक व्यक्ति को क्षुधा मिटाने के लिए साधन सुलभ नहीं होते, वह पतित-मार्ग को अंगीकार करने में सकुचाता नहीं है। प्रस्तुत कहानी में भी पत्नी अपने मृत पति के मुख से रोटी का टुकड़ा निकालकर अपने भूखे पुत्र को खिलाने में संकोच नहीं करती है, क्योंकि उसके मृत-पति की भूख से उसके जीवित पुत्र की क्षुधा अधिक दारुण है। पुत्र के वातसल्य ने मानव की समस्त दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर क्षुधा को शान्त करने का मार्ग खोज निकाला। अब नारी (पत्नी) की दृष्टि में अपने पति की अपेक्षा पुत्र का जीवन मूल्यवान बन गया। विनोद शंकर व्यास ने भी अपनी कहानी 'विधाता'[2] में इस विषमता के प्रति भयंकर आवाज़ खड़ी कर दी है।

---

1. "क्रान्ति, आन्दोलन, सुधार, परिवर्तन कुछ भी नहीं है, क्रान्ति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन की और विचारों की प्रणालियों का घातक विनाशकारी भयंकर विस्फोट। इसका न आदर्श है, न ध्येय है, न धुर। क्रान्ति विपथगा है, विध्वंसिनी है, विदग्धकारिणी है।"
—'विपथगा'—'अज्ञेय'
(अमरवल्लरी और अन्य कहानियां—पृ० 73)।
2. अस्सी कहानियां—विनोद शंकर व्यास, पृ० 342।

वास्तव में यह काल 'संक्रमण-काल' था। पुरानी मान्यताएं टूटती जा रही थीं, नये जीवन-मूल्य स्थापित होने जा रहे थे। परन्तु न 'पुराना' ही समाप्त हो चुका था और न 'आधुनिक' ही स्थापित हो रहा था। एक प्रकार से पुराने तथा नए मूल्य का युद्ध चल रहा था।[1] इस मनोवृत्ति ने मनुष्य के मस्तिष्क को इतना प्रभावित कर रखा है कि नव-चेतन के संदेश को वह एकदम स्वीकार करने को तत्पर नहीं है।

3. **प्रगतिवादी कहानियों में समाज का यथार्थ :** मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य का जीवन नाना प्रकार की विषम परिस्थितियों से परिपूर्ण है। जिस तरह एक बड़ी मछली छोटी मछलियों को निगल डालती है उसी तरह समाज में शक्तिशाली लोग (शोषक) आरम्भ से ही शोषितों को कुचलते आ रहे हैं। उधर शोषित भी अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं इसका विरोध करते हैं। इस तरह समाज में इन दो वर्गों का द्वन्द आपस में चलता रहता है। मार्क्सवाद के अनुसार यह जीवन का शाश्वत सत्य है।

प्रगतिवादी साहित्य शोषक-शोषित की इस वर्ग-विषमता को बेरहमी से उकेरता रहता है। विदेशी शासकों एवं पूंजीपतियों ने सदैव अपनी शोषक एवं अमानुषिक मनोवृत्ति का परिचय दिया है। इस वृत्ति से पीड़ित होकर जनता ने उनके विधि-विधान एवं नीति के प्रति विरोध प्रकट करना आरम्भ कर दिया। 'अन्नदाता'[2] में कृष्णचन्दर ने भारतीय जनता के साथ शासक-वर्ग द्वारा किए गए अमानुषिक व्यवहार को बुरी तरह चित्रित किया है। यहाँ क्षुधा से व्याकुल होने के कारण पति अपनी पत्नियों को, माताएं पुत्रियों को, भाई अपनी बहनों को विक्रय करने में संकोच का अनुभव नहीं करते थे चाहे उनकी बिक्री से आधा डालर मूल्य ही प्राप्त होता हो। उन्हें अपनी पत्नियों, माँओं-बहनों को विक्रय करते समय क्रयकर्ताओं से बड़ा ही नम्रतापूर्ण व्यवहार करना पड़ता था।

शोषित अथवा श्रमिक का स्वामी सदा यह प्रयत्न करता रहता है कि वह श्रमिक को कम-से-कम मुआवजा दे और उससे अधिक-से-अधिक काम

---

1. "दीर्घकाल तक शोषक व्यवस्था की धारणाओं में बंधे रहकर हमारे समाज ने असामाजिक मनोदशाएं पैदा कर ली हैं। इनमें से एक है प्रभुता का मद। तर्क की संगति से शोषक व्यवस्था की अनैतिकता को स्वीकार करके भी लोग इन मनोदशाओं से मुक्ति नहीं पा सके।"

—'धर्मयुद्ध'; यशपाल; पृ० 7।

2. 'अन्नदाता' (अन्नदाता संग्रह)—कृष्णचन्दर; पृ० 10।

ले। इससे उसकी शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक कठिनाइयों का पैदा होना एक सीधी बात है। इसलिए श्रमिक इसके विरुद्ध आवाज़ उठाये, तो उसकी और भी दुर्गति हो जाती है।

ग़रीब व्यक्ति द्वारा थोड़ी-सी भूल-चूक हो, या स्वामी की सेवा में उसको कुछ कमी आ जाए, तो उसके साथ बड़ा ही कठोर व्यवहार किया जाता है; उससे बेगार लिया जाता है, कितने ही अपशब्द उसे सहन करने पड़ते हैं। "जिनका समर्थक कोई भी न हो, वे शोषक वर्ग के शोषण का शिकार बनते हैं। उनकी करुण पुकार एवं दारुण कराह निष्फल ही रह जाती है। उनका जीवन गांव के पदाधिकारियों के इंगित पर निर्भर रहता है।"[1]

प्रगतिवादी साहित्य ने पूंजीवादी समाज की व्यवस्था पर अत्यंत ही तीखे व्यंग्य किये हैं। एक लिहाज़ से हमारा समाज 'हॉबस' का 'स्टेट ऑफ नेचर' जैसा है जहां कि शिकारी अपने शिकार के पीछे हमेशा होता है और उसको कभी भी हाथ से नहीं जाने देता है। यहां सामाजिक व्यवस्था ही इस प्रकार की गई है कि सभी व्यक्ति एक दूसरे को लक्षित-भक्ष (शिकार) बनाकर जीवित रहने का प्रयास करते हैं। वाणिक बाज़ार में वस्तुओं की न्यूनता को, वकील नियम एवं विधान के षडयन्त्र में फंसे अपराधी को, डॉक्टर बीमार को अपना लक्ष्य बनाते हैं। 'डॉक्टर'[2] रोगी को दर्द से मुक्त नहीं कराना चाहता, बल्कि उसका लक्ष्य रोग के माध्यम से लाभ उठाना मात्र रह जाता है। उधर यही हाल जमींदारों का किसानों के प्रति होता है। वे भी उसकी चमड़ी छीलकर विलासमय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।

इसके अतिरिक्त इन कहानियों में वे स्वर भी आये हैं जिनका हमारे जीवन के साथ सम्बन्ध है। उदारणार्थ अमरकान्त ने अपनी एक कहानी 'इंटरव्यू' में यह दिखाया है कि आजकल नौकरी देने के बहाने किये जाने वाले इंटरव्यू महज़ ढोंग होते हैं। ऐसे अवसरों पर भाई-भतीजावाद वाला सिद्धांत चलता है। इस नाटक से आज के युग में जो कुंठा, निराशा एवं घुटन व्याप्त है, उसका चित्रण भी प्रस्तुत कहानी में किया गया है।

इन कहानियों के आधार पर हम देखते हैं कि युग की सारी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक उथल पुथल अपने मार्मिक तथा महत्वपूर्ण अंशों को लेकर इन कहानियों का स्वर चला है। स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिवादी कहानीकारों ने भी युग की परिस्थितियों से प्रभावित होकर उनका यथार्थपरक

---

1. प्रेमचन्दोत्तर कहानी साहित्य—डा० राधेश्याम गुप्त; पृ० 145।
2. 'डॉक्टर'; यशपाल (धर्मयुद्ध संग्रह), पृ० 111।

चित्र खींचा। स्वतंत्रता से पूर्व तथा पश्चात् के कहानीकारों का अन्तर विषय के लिहाज़ से कुछ बदल गया। चूंकि आज़ादी के बाद हमारे देश की परिस्थितियां बदल गई, इसलिए स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिवादी कहानियों के विषयों में परिवर्तन आना एक सीधी बात थी। इनमें जन-सामान्य के दु:ख-दर्द के मार्मिक चित्र, स्वतंत्रता-संग्राम की झांकियाँ, मनुष्यता के उज्जवल भविष्य का नये से नया आख्यान, वर्ग-विषमता की सच्ची साफ़ तस्वीरें, उच्च-वर्गों का रंगा-पुता जीवन तथा और ऐसे ही दूसरे विषय समाविष्ट हुए हैं। इसके अतिरिक्त इनमें "नारी-जीवन के हर्ष-विषाद तथा उसके अंतर की नई धड़कनें, अछूतों की मार्मिक जीवन-दिशाएं, मध्य-वर्ग की त्रस्त उखड़ती-टूटती बेबस, वीरान ज़िन्दगी, मज़दूरों की हड़तालें, कामचोर, आरामतलब तथा निकम्मे सरकारी कर्मचारियों के क्रिया-कलाप, प्राचीन तथा नवीन आदर्शों, मान्यताओं तथा जीवन-व्यवस्थाओं का संघर्ष, रूढ़ि रीतियों की सड़ांध, धर्म-प्रचारकों, समाज-सुधारकों तथा राजनीतिक नेताओं की आदर्शों के खेल में पनपती कार-गुज़ारियां, वेश्याओं तथा उपेक्षिताओं की यंत्रनाएं, सब की सब तथा और भी न जाने कितनी बातें इतने सजीव और सहज ढग से यथार्थ के जागृत संदर्भों में चित्रित की गई कि प्रेमचन्द की भांति ये कहानियां भी अपने युग-जीवन तथा भविष्य की उभरती चेतना का जीवंत-चित्र सामने बनकर आई।"[1]

4. प्रगतिवादी कहानी : मार्क्सवाद की अभिव्यंजना : यह बात निर्विवाद रूप से मानी जा सकती है कि एक प्रगतिवादी लेखक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवाद की मान्यताओं से प्रेरणाएं ग्रहण करता है। इसके अनुसार ही वह समाज में दो विषम एवं विरोधी वर्गों का द्वन्द्व दिखाता आया है। मन से ही प्रगतिवादी लेखक पूंजीवाद का शत्रु तथा प्रगतिवाद एवं समाजवाद का समर्थक होता है। उसका विश्वास है कि समाज में क्रान्ति तब ही होती है जबकि कृषक, मज़दूर तथा अन्य श्रमिक-वर्ग संगठित हो जाएं। ये उपेक्षित तथा शोषित वर्ग ही समाज की जागृत शक्तियां हैं। अत: प्रगतिवादी साहित्यकार उन उपेक्षित तथा शोषित वर्गों की सहायता तथा समर्थन करता आया है जो कि प्रस्तुत प्रबन्ध में उद्धृत की गई कहानियों से स्पष्ट होता है।

प्रगतिवादी साहित्य के अन्तर्गत उन कई बातों का समावेश हुआ है

---

1. प्रगतिवाद : शिवकुमार मिश्र; पृ० 112।

जो कि साम्यवाद के अनिवार्य विषय नहीं हैं,[1] इसीलिए कई आलोचक इन कहानीकारों को विशुद्ध रूप से मार्क्सवादी कहानीकार मानने के लिए तैयार नहीं।[2] परन्तु मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को देखकर इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वातंत्र्योत्तर काल के प्रथम चरण की ये कहानियां मार्क्सवाद के सिद्धान्तों से अछूती नहीं रही हैं।

प्रस्तुत आयाम के आरम्भ में ही इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है कि स्वातंत्र्योत्तर काल तक आते-आते हिन्दी के प्रगतिवादी कहानीकारों ने उच्च-कोटि की रचनाएं प्रदान की थीं एवं यह साहित्य काफी समृद्ध भी हो चुका था। यह कहना असंगत न होगा कि कुल मिलाकर स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दी की कहानी प्रगतिवादी विचारधारा को न पुष्ट ही कर सकी और न ही कला की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर प्रगतिवादी कहानीकार कोई मौलिकता दिखा सके। सन् 1950 के बाद प्रगतिवादी कहानियों की प्रवृत्ति क्षीण एवं नई कहानियों का ज़ोर अधिक दिखाई देने लगता है। हिन्दी के कहानी-क्षेत्र में इस परिवर्तन के कई विशेष कारण थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि स्वातंत्र्योत्तर काल में हमारे देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य परिस्थितियों में आमूलाग्र परिवर्तन आए। प्रगतिवादी कहानीकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से जिस आस्था का दिग्दर्शन किया था, कालान्तर में वह पूरी होती नहीं दिखाई दी। यद्यपि इन कथाकारों की रचनात्मक चेतना ने सामाजिक संदर्भों की स्पष्ट अवहेलना नहीं की, तो भी आज़ादी के बाद सन् 1950 के लगभग प्रगतिवादियों की संचित आस्था टूटने लगी। इन कहानीकारों के नारों तथा जीवन की वास्तविकता में भयानक अन्तर्विरोध आ गया। पाठकों तथा सामान्य लोगों को लगा कि प्रगतिवादियों

---

1. प्रगतिवाद के अन्तर्गत, "मानववाद, क्रन्ति और विशेष परिस्थितियों में—जैसे पराधीनता में अथवा बाहर से हमला होने पर, देश-भक्ति भी आ जाती है, यद्यपि इनमें से कोई भी उसका अनिवार्य तत्व नहीं है।"
—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृतियां; डॉ० नागेन्द्र; पृ० 101।
2. "......मानवतावादी दृष्टिकोण को लिए हुए जो कहानियां हैं, उन्हें मानवतावादी भी कहा जा सकता है। यह उचित नहीं है कि उन्हें मार्क्सवादी कहानियां कहकर एक संकुचित वृति से कर दिया जाए, क्योंकि मार्क्सवाद से सम्बन्धित प्रगतिवाद तो अपने आप में अपूर्ण है और साहित्य को दल-विशेष में बांटने का प्रयास करता है।"
—प्रेमचन्दोत्तर कहानी साहित्य; डा० राधेश्याम गुप्त; पृ० 153।

के नारे अब खोखले तथा आत्मवंचनापूर्ण होते जा रहे हैं, बल्कि वे यथार्थ-संदर्भों के साथ जुड़ नहीं पा रहे हैं। इसका परिणाम यह निकला कि सन् 1950 में नए कथाकारों की जो पीढ़ी उभरी वह नयी दृष्टि तथा प्रभूत चेतना से सम्पन्न थी। इस पीढ़ी ने अपनी रचनाओं में जीवन के परिवर्तित संदर्भों से उद्भूत मनुष्य के नये भाव-बोध और अनुभूतियों को एक विश्वसनीय प्रामाणिक धरातल पर, कलात्मक सौष्ठव के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया। "परिस्थितियों के कठोर दबाव और युग-यथार्थ के सम्प्रेषण की 'जैन्युइन' मांग को नकार कर; मानवता, सद्भावना व समता का वायवी उद्घोष करने वाले, बात-बात में सूरज उगाने वाले बेजान और खोखले प्रगतिशील नारों तथा अहंमूलक व्यक्तिवादी परिधियों से (स्वाधीनोत्तर) कहानी अपने को मुक्त करने लगी।"[1]

(ख) द्वितीय आयाम (सन् 1950 से सन् 1960 तक)

1. नयी कहानी : नामकरण और नयेपन की व्याख्या

लगभग सन् 1950 ई० में एक सशक्त कथा-आन्दोलन के रूप में हिन्दी की 'नयी कहानी' सामने आई जिसने कथा-इतिहास में अपने मौलिक वैशिष्ट्य की स्थापना की। उस समय हिन्दी के नए कथाकारों की जो पीढ़ी उभरकर आई, वह नई दृष्टि एवं प्रभूत चेतना से सम्पन्न थी। इन कथाकारों ने अपनी रचनाओं में जीवन के परिवर्तित सम्बन्धों और सामाजिक संदर्भों से उद्भूत मनुष्य के नये भाव-बोध और अनुभूतियों को एक विश्वसनीय प्रामाणिक धरातल पर नवीन कलात्मक निखार के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

आज का जो संश्लिष्ट जीवन है, उसे विभिन्न स्तरों पर समझने और उसकी सार्थकता-निरर्थकता की खोज नये कहानीकारों ने संवेदना के नये धरातल से की। सन् '50 के बाद इस कहानी-विधा का अनेक दिशाओं में विकास हुआ और साथ ही उसके बारे में कई आधारभूत प्रश्न पूछे गए। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न इस प्रकार हैं—(1) 'नयी कहानी' किसे कहते हैं और इसके पूर्व 'नयी' शब्द जोड़ने का क्या अभिप्राय है? (2) नयी कहानी का स्वरूप क्या है? (3) नयी कहानी 'नयी' है भी कि नहीं? आदि।

यद्यपि ये कई उपरोक्त प्रश्न संक्षिप्त हैं किन्तु जरा ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि एक प्रश्न के सुलझने पर उसी में से अनेक प्रश्न उभरते हैं, बात

---

1. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य; सं० डा० महेन्द्र भटनागर; पृ० 34।

उलझती जाती है किन्तु विषय की रुचि बढ़ती ही जाती है।

इन सवालों के जवाब में शाश्वतवादी काव्य-शास्त्रज्ञों को, जो कि नयी कहानी का मूल्यांकन बने बनाये नियमों पर करना चाहते थे, नयी कहानी निरर्थक और भ्रामक लगी। ऐसे आलोचकों के अनुसार, जिन विशेषताओं की चर्चा नयी कहानी में की गई है, वे पहले ही प्रेमचन्द की कहानियों में मौजूद है तब उसमें यह 'नयी' जैसा शब्द जोड़ने का मतलब क्या है? इतना ही नहीं, नयी कहानी, ऐसे आलोचकों की दृष्टि में कहानी ही नहीं थीं, क्योंकि उसमें वे सब तत्व मौजूद नहीं थे जो कि कहानी के लिए अपेक्षणीय हैं। उधर पाठकों एवं समीक्षकों को यह जानने की जिज्ञासा हुई कि 'नयी कहानी' में नया क्या है?—विषय, शिल्प, संवेदना, एप्रोच, भाव-बोध; जो कि इसको व्यतीत कहानी से अलगाता है।

यहां यह कहना असंगत न होगा कि व्यतीत कहानी की तरह 'नयी कहानी' को एक 'सुनिश्चित परिभाषा में समझने अथवा समझाने का प्रयत्न करना या उसका परिचय काव्य-शास्त्रज्ञों के नुस्खों में ढूंढ़ लेना अपने आपको हठलाने के सिवा और कोई माइने नहीं रखता है। कारण यह है कि नयी कहानी इतनी गव्यात्मक थी और इसका क्षेत्र इतना विस्तृत होता जा रहा था कि इसको परिभाषाओं के सीमित कठघरों में बांधना संभव नहीं था।[1]

अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा 'नई कहानी' में इतनी व्यापक चर्चा का होना इस बात का द्योतक है कि नई कहानी में कुछ ऐसा अवश्य है जो इसको सन् 1950 से पूर्व की कहानियों से अलगाता है और पाठकों-समीक्षकों को इस नए को सम्हालने या तोलने के लिए बाध्य करता है।

सन् 1950 के बाद लिखी गई कहानियों में नवीन जीवन-दृष्टि पाकर डॉ० नामवर सिंह के 'कहानी : नववर्षांक—1956'[2] में प्रकाशित कहानियों में 'एक नए समारम्भ का आत्मसजग आभास' मिला था और इन्होंने इन

---

1. " 'नई कहानी' में गद्य की दूसरी विधाओं को इस क़दर आत्मसात किया है कि रेखाचित्र, रिपोर्ताज़, यात्रा विवरण यहां तक कि निबन्ध भी, उसकी परिभाषा में इतना कम दूर रह गया है, कि कहानी की समूची परिभाषा ही बदल गई है।"
—नयी कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र, पृ० 102।
2. "·······'कहानी : नववर्षांक—1956' का ऐतिहासिक महत्व है और इसका अधिकांश श्रेय कृति संपादक भैरवप्रसाद गुप्त को है। हिन्दी

कहानियों के साथ 'नयी' शब्द जोड़ने की आवश्यकता महसूस की थी। वैसे इससे पूर्व तथा डॉ० नामवर सिंह के समसामयिक आलोचकों ने भी इन कहानियों में नवीन जीवन-दृष्टि, नवीन कथ्य, नवीन शिल्प इत्यादि की ओर संकेत किया था, यद्यपि 'नया' शब्द ही जोड़ने का कोई आग्रह नहीं दिखाई देता।[1]

'नयी कहानी' के काफी देर बाद इसकी चर्चा शुरू हुई। यद्यपि डॉ० नामवर सिंह ने सन् 1956 में यह नाम देने की आवश्यकता महसूस की थी, किन्तु वास्तव में सन् 1957-58 में ही यह अपना अस्तित्व प्रमाणित कर सकी। 'कहानी', 'कल्पना', 'विनोद', 'लहर', 'ज्ञानोदय', 'नई कहानियां' तथा अन्य

जगत में इस विशेषांक की जितनी व्यापक चर्चा हुई, और जैसा सहर्ष स्वागत हुआ, उससे कहानी के नवजागरण की नींव पड़ गई। निस्सन्देह इस विशेषांक की नई कहानियां परंपरागत कहानी के दायरे से सर्वथा मुक्त नहीं है, किन्तु इनसे नए समारम्भ का आत्मसजग आभास अवश्य मिलता है।......"

—नयी कहानी और एक शुरूआत; डा० नामवर सिंह।

(दे० नयी कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना, सं० श्री सुरेन्द्र; पृ० 133।)

1. (क) 'कल्पना : अप्रैल '54' में 'साहित्य धारा' के अन्तर्गत चक्रधर का यह कथन था :—

"एक लम्बे समय के बाद छोटी कहानियां फिर से अपनी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने लगी हैं।"

—नयी कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना; संपादक श्री सुरेन्द्र; पृ० 130।

(ख) 'कहानी : नववर्षांक—1956' में श्रीपतराय कहते हैं :—

"बीच-बीच में मुझे सन्देह होने लगता है कि कहीं मैं समय की गति से पीछे तो नहीं हूं और इसी कारण मुझे हिन्दी-कहानी में वह उन्नति नहीं परिलक्षित हो रही है, जिसकी आशा करनी चाहिए। यह स्वीकार करने में मुझे आपत्ति नहीं कि कहानी का स्वरूप बदल रहा है और मैं शायद अपने पुराने संस्कारों के कारण कहानी से वह मांग कर रहा हूं, जो आज उसका लक्ष्य ही नहीं है।"

—नयी कहानी और एक शुरुआत; डा० नामवर सिंह।

(दे० नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति; सं० डा० देवीशंकर अवस्थी; पृ० 232)।

पत्रिकाओं के माध्यम से 'नयी कहानी' की विस्तृत चर्चा हुई। इसके अतिरिक्त रेडियो सम्मेलनों, कथा गोष्ठियों, परिसंवादों तथा वाद-विवादों से भी यह काफी चर्चित हुई एवं इसका नामकरण स्पष्ट होता गया। सन् 1960-'61 में यह नाम न केवल स्वीकृत ही हुआ, बल्कि हिन्दी कहानी-साहित्य से सम्बन्धित कुछ आयाम भी सामने आए। 'दोपहर का भोजन',[1] 'परिन्दे',[2] 'वापसी',[3] 'खोई हुई दिशाएं',[4] 'गुल की बन्नो',[5] 'लन्दन की एक रात',[6] 'तीसरा आदमी'[7], 'लाशों का दरिया',[8] 'समय',[9] 'दो दुखों का एक सुख',[10] 'क्वार्टर',[11] 'मिस पाल'[12] तथा ऐसी ही कहानियां इस दशक में लिखी गईं जो कि कहानी के परम्परागत ढांचे को तोड़ गईं, जिन्हें पारिभाषिक संज्ञाओं के अनुसार विश्लेषित किया जा सकता था, जिनमें नवीन कथ्य के साथ-साथ नवीन दृष्टि तथा शिल्प सम्बन्धी नवीन आयाम थे।

अतः इन कहानियों के सन्दर्भ में जिस नएपन की चर्चा हुई थी, वह काल-सापेक्ष न होकर दृष्टि-सापेक्ष है। इस प्रकार नए की विशिष्टता दृष्टि की नवीनता है। सन् 1950 के बाद की 'हिन्दी-कहानी' इसी अर्थ में नयी कहानी है। प्रेमचन्द की 'पूस की रात' और 'कफन', 'अज्ञेय' की 'रोज़' तथा ऐसी ही दूसरी कहानियां 'नयी कहानी' की परंपरा में गिनी जा सकती हैं यद्यपि इनका रचनाकाल बहुत पूर्व का था। इसके विपरीत आज के युग के कई कहानी-लेखकों की रचनायें नवीन संदर्भों के साथ न जुड़ पाने के कारण नव-लेखन में सम्मिलित नहीं हो सकतीं। इसका निष्कर्ष यही निकलता है

---

1. अमरकान्त—दे० नयी कहानी : प्रकृति और पाठ; संपादक श्री सुरेन्द्र; पृ० 107।
2. निर्मला वर्मा—मेरी प्रिय कहानियां; पृ० 34।
3. उषा प्रियंवदा—दे० नयी कहानी : प्रकृति और पाठ; सं० श्री सुरेन्द्र, पृ० 114।
4. कमलेश्वर—वही; पृ० 134।
5. धर्मवीर भारती—वही; पृ० 174।
6. निर्मल वर्मा—मेरी प्रिय कहानियां, पृ० 130।
7. मन्नू भंडारी—यही सच है……और अन्य कहानियां; पृ० 27।
8. कमलेश्वर—मेरी प्रिय कहानियां; पृ० 73।
9. अमृतराय—मेरी प्रिय कहानियां; पृ० 11।
10. शैलेश मटियानी—मेरी प्रिय कहानियां; पृ० 70।
11. मोहन राकेश—क्वार्टर तथा अन्य कहानियां; पृ० 118।
12. मोहन राकेश—क्वार्टर तथा अन्य कहानियां; पृ० 198।

कि "नए का सवाल उम्र के कम ज्यादा होने से जुड़ा हुआ सवाल नहीं है, बल्कि यह तो उस दृष्टि-बोध का सवाल है, जो आधुनिक ज़िन्दगी को, उसके तमाम आन्तरिक और बाह्य घिरावों में बदले और बदलते हुए कोणों से कोलीस होकर देख पाता है। इसलिए 'नयी कहानी' चाहे नाम हो (और वह एक स्तर पर नाम है भी) लेकिन 'नया' अपने अर्थ में प्रक्रियावान है यानी प्रक्रिया है और यह प्रक्रिया जितनी आज की है, उतनी ही आगे की भी.........इस बात पर कोई बहस नहीं कि इसके लिए चाहे नाम और-और आ जाएं या दे दिए जाएं।"[1]

नयी कहानी को न केवल समय का धरातल ही, बल्कि नवीन जीवन-दृष्टि एवं शिल्प भी इसको व्यतीत कहानी से अलगाता है। इसके रचयिता जिन विदेशी विचारकों (जैसे सार्त्र, काफ़्का, कामू, हेमिग्वे, चेख़व आदि) से प्रभावित हुए वे भी बहुधा विश्व-युद्धोत्तर प्रतिभाएं ही थीं। इन चिंतकों ने जीवन-सम्बन्धी जो नवीन-दर्शन दिया, उसमें समसामयिकता थी। इसलिए हिन्दी के रचनाकारों ने इन लेखकों से जो प्रभाव ग्रहण किए, वे उचित ही थे। वास्तव में जिस काल में 'नयी कहानी' का उदय हुआ वह सम्पूर्ण चेतना का संक्रमण-काल था। पुरानी मान्यताएं टूटती जा रही थीं और नवीन मूल्य प्रतिस्थापित हो रहे थे। मूल्यों एवं मान्यताओं का यह बदल जाना फ़ैशन न होकर युगीन विवशताएं थीं। समसामयिक विभिन्न परिस्थितियों (सामाजिक, आर्थिक, मानसिक आदि) के दबावों के कारण समाज में परिवर्तन हो रहे थे। इसके अनुरूप ही 'नयी कहानी' ने नवीन विषय, संवेदना एवं शिल्प को लेकर अपना सृजनात्मक कार्य शुरू किया। इसी बात की ओर संकेत करते हुए कमलेश्वर कहते हैं, "नयी पीढ़ी हम उसी को मान सकते हैं जो नए जीवन और नयी मानवीय चेतना से सम्पृक्त हो। 'नया' शब्द यहां सापेक्षिक अर्थ में ही लिया जा सकता है। दिवकाल की सीमा के विकास पर ही उसकी परीक्षा नहीं होगी। एप्रोच, निर्वाह और दृष्टि ही उसके निर्णायक बिन्दु होंगे।"[2]

निष्कर्ष : सन् '50 के बाद लिखी जाने वाली हिन्दी कहानियों में व्यतीत कहानियों से अलगाव के बिन्दु स्पष्ट थे, इसीलिए उन्हें अलग से नाम देने की आवश्यकता महसूस की गई थी। विभिन्न समीक्षकों के अध्ययन के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि डॉ० नामवर सिंह प्रथम

---

1. नयी कहानी : प्रकृति और पाठ; श्री सुरेन्द्र; पृ० 5।
2. 'नयी पीढ़ी की उपलब्धियां' : कमलेश्वर; आलोचना, जुलाई, '65; पृ० 99

समीक्षक रहे होंगे जिन्होंने यह नया नाम देने की आवश्यकता महसूस की हो। 'नयी कहानी' का पूर्वाद्ध भले ही पहले-पहले विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ हो, किन्तु अब इसका अर्थ विशुद्ध रूप में संज्ञा के अर्थ में लिया जाता है।

अत: 'नयी कहानी' का नयापन काल-सापेक्ष न होकर दृष्टि-सापेक्ष है। यदि यह काल-सापेक्ष न होता तब प्रेमचन्द की कहानियां अब भी नयी ही कहलाई जा सकतीं, क्योंकि प्रत्येक युग की कहानी नयी कहानी ही हो सकती है। 'नयी' शब्द का अर्थ इसी विशिष्ट अर्थ में लिया गया है।

नई कहानियों का 'नयापन' निरन्तर प्रक्रियावान रहा है। इसका कारण यह है कि स्वातंत्र्योत्तर काल की विभिन्न परिस्थितियां हमेशा एक-सी नहीं रहीं, जिसका परिणाम यह निकला कि समय गुजर जाने पर नए शब्द की व्याख्या नवीन ढंग से ही की गई। इसी कारण साठोत्तरी कहानीकारों ने 'नयी कहानी' के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन भी चलाए। कहना न होगा कि ये कथा-आन्दोलन 'नई कहानी' की परम्परा के विकसित आयाम थे। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'नई कहानी' की परंपरा सदैव गव्यात्मक रही है, जो कि इसके विकास का शुभ लक्षण माना जा सकता है।

2. नई कहानी : ऐतिहासिक संदर्भ

यह बात निर्विवाद रूप से मानी जा सकती है कि 'नयी कहानी' का व्यक्तित्व इतना संवरा और निखरा है जो कि इसको कहानी की पिछली परम्परा से अलगाता है। वस्तु तथा रूप के लिहाज़ से कहानी में मौलिक अंतर ज़रूर आए हैं और ये अन्तर काफी सशक्त हैं, तभी तो साहित्यिक चेतना कविता के साथ साथ कहानियों की ओर भी केन्द्रित हो रही है। सन् '50 में 'नयी कहानी' की जो विधा हमारे सामने आई उसने निस्सन्देह कथा-इतिहास में अपने मौलिक वैशिष्ट्य की स्थापना की। इसमें वस्तु-चित्रण की विविधता, नवीन जीवन-दृष्टि, यथार्थ आधार तथा नयी-पुरानी बातों का समावेश था।[1]

---

1. "वे (नयी कहानियां) जिस वस्तु-सत्य की जीवन्त कला-सृष्टि हैं, उसमें जातीय जीवन तथा व्यक्तिगत अनुभूति, परम्परागत दाय तथा नवीन परिवर्तन, यथार्थ आधार तथा कल्पना का आवरण आदि बहुत सी नयी-पुरानी बातों का समवाय हो सकता है।"
—कहानी : नयी कहानी; डा० नामवर सिंह; पृ० 54।

सन् '50 तक आते-आते हिन्दी कहानी कई महत्वपूर्ण आयामों से गुज़र चुकी थी। प्रथम आयाम हिन्दी कहानियों का आविर्भाव युग था, जबकि द्वितीय आयाम में कहानी जीवन का चित्र-मात्र बन गई। तृतीय आयाम में हिन्दी कहानीकारों पर पश्चिमी प्रभाव पड़ने लगा। परिणामस्वरूप इस आयाम में नवीन कथ्य के साथ-साथ नवीन शिल्प का प्रयोग होने लगा।

अब प्रश्न यह है कि नयी कहानी की परम्परा कहां से आरंभ होती है? इस तथ्य को जानने के लिए हमें आज़ादी के पूर्व के द्वितीय तथा तृतीय आयाम के कहानी साहित्य पर एक दृष्टिपात करना होगा। प्रेमचन्द के कृतित्व पर विचार करने से कई बातें स्पष्ट होती हैं, कई तथ्य उजागर होते हैं। आधुनिक कहानी आलोचकों[1] के अनुसार प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियों में विषय और दृष्टि की कुछ ऐसी सीमा है जो कि समस्त सत्य को केवल बहिर्गत रूप में ही देखती मानती आई है। वास्तव में प्रेमचन्द तथा उनके समसामयिक कहानी-लेखकों का संस्कार मूलत: पुराना था और उसमें अधिक परिवर्तन नहीं हो सका। ये कहानी-लेखक आज के कहानीकारों की तरह जीवन के यथार्थ का अनुभव तो करते थे किन्तु आदर्शवाद का आवरण, उनकी दृष्टि को सुधारवाद के शार्ट-कट पर ही लेता था। ये लेखक युगीन समस्याओं का चित्रण करते थे और साथ ही उसका समाधान भी ढूंढ़ निकालते थे। दूसरे शब्दों में, 'प्रश्न' का 'उत्तर' देना इनका काम होता था।

परन्तु धीरे-धीरे प्रेमचन्द को भी इस बात का एहसास होने लगा कि 'आदर्शवाद' का आवरण एक शुद्ध साहित्यिक रचना का महत्व कम कर देता है। यही कारण है कि धीरे-धीरे उन्होंने समस्त आदर्शवादी संस्कारों का आवरण फाड़कर उनकी दृष्टि भी विकसित होती गई। 'पंचपरमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी', 'यही मेरी मातृ भूमि है' तथा ऐसी ही अनेक रचनायें लिखने के बाद प्रेमचन्द ने अपने उत्तरकाल में 'कफ़न', 'पूस की रात' और 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी सशक्त यथार्थपरक कहानियां लिखीं। 'नयी कहानी' के

---

1. "प्रेमचन्द ने सारे मानवीय सम्बन्धों को आंकड़ों के स्तर तक सरल कर रखा था। परिणाम यह हो रहा था कि मानव-व्यवहार के उन रूपों को कहानियों में जगह नहीं मिल पाती थी जिन्हें हम सामाजिक आंकड़ों तक सरलीकृत करने में समर्थ नहीं थे।"
—नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति; सं० डा० देवीशंकर अवस्थी; पृ० 81।

पक्षधर को निसन्देह ऐसी ही शुद्ध यथार्थपरक व्यतीत कहानियों में नयेपन के अंकुर मिलते हैं।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी की कहानी-कला पश्चिमी चिन्तन से प्रभावित होने लगी। हिंन्दी कहानीकार के एक वर्ग ने मार्क्सवादी चिन्तन के अनुरूप प्रगतिवादी कहानियों का निर्माण किया, तो दूसरे वर्ग ने 'फ़ायड' के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त से प्रभावित होकर वैयक्तिक कहानियाँ रचीं। 'नयी कहानी' के पक्षधर इन पर यह आरोप लगाते हैं कि साहित्य-प्रसार की अपेक्षा वे सिद्धांत-प्रचार कर रहे थे। इन सबके पास अपने-अपने चौखटे थे, जिसका सहारा लिए बिना वे शायद अपने को दिशाविहीन पाते। परिणामस्वरूप किसी ने मार्क्सवाद की मान्यताओं से प्रभावित होकर वैचारिकता का गम्भीर मुखौटा पहना, किसी ने दर्शन के लोभ में आकर वास्तविक जीवन की अनुभूतियों से अपने आपको दूर रखा और किसी ने 'फ़ायड' के मनोविश्लेषण सिद्धान्त से प्रभावित होकर अपने पात्रों के मानस में ही विचरण कर, मानसिक ग्रन्थियों की केस-हिस्ट्री तैयार की।

सन् 1947 के बाद यह प्रतीत होने लगा कि इन कहानीकारों के प्रेरणा-स्रोत मानो सूख गए हों। कोई ताज़गी और नयापन इनकी कला-कृतियों में दृष्टिगोचर नहीं होता। युगीन परिस्थितियां बदल जाने पर भी वे अपने आपको दोहराने लगे।[1]

उधर कृश्नचन्दर फार्मूले पर आधारित 'रोमांटिक यथार्थवाद' की ऐसी कहानियां लिखते रहे जिनमें अलंकृत भाषा तो थी परन्तु मार्क्सवाद के बावजूद जीवन के यथार्थ का चित्रण नहीं था। या फिर कुछ कहानीकार ऐसी कहानियां लेकर आए जिनमें भावुकता का अतिरेक था और जिसके नीचे जीवन की सच्चाइयां डूब गईं।

---

1. "जैनेन्द्र ने 'विज्ञान' जैसी कहानी लिखकर नारी की निर्वसन देह पर ध्यान केन्द्रित किया। इन कहानियों को स्वयं उन्होंने ही विलक्षण माना। यशपाल पुरानी चेतना की 'सच बोलने की भूल' जैसी दृष्टान्तनुमा फार्मूलाबद्ध कहानी के अतिरिक्त और कुछ न दे सके। और 'अज्ञेय' की शरणार्थी में संग्रहीत कहानियां इस बात का परिचय देती हैं कि वे आधुनिक तो हैं पर कदाचित समसामयिक नहीं रह गए हैं।"
—हिन्दी कहानी : नई प्रवृत्तियां और उपलब्धियां : आलोचना (जुलाई '65); पृ० 58।

इस तरह कई नए कहानीकार एवं समीक्षकों के मतानुसार सन् '40 से '50 तक का दशक विधा की परम्परा की दृष्टि से कुछ न दे सका। चूंकि यह उथल-पुथल का जमाना था, प्रत्येक चीज़ अस्थिर थी, भाषणों पर भाषण होते थे······अतः इस अस्थिर युग में कहानी के नाम पर 'शब्दचित्र' या 'स्कैच' लिखे गए।[1] इस ठहराव और गतिरोध की तीव्र प्रतिप्रक्रिया हुई और एक नई प्रकार की कहानी का उदय हुआ।

खंडन : स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों, कहानीकार-समीक्षकों तथा कहानी-आलोचकों, जो कि नई-कहानी के पक्षधर हैं, का खंडन हो सकता है। यदि इनके कथन का ध्यान से अध्ययन किया जाए, तो महसूस होता है कि इनके अपने ही कथन में कुछ दुर्बलताएं हैं। जहां एक ओर ये अपने से पूर्व के कहानी-साहित्य में गतिरोध की बात करते हैं वहां दूसरी ओर ये स्वीकारते हैं कि "नई कहानी विकास की प्रक्रिया से गुजरी है जिसके वस्तु-बीज प्रेमचन्द, प्रसाद और यशपाल में हैं।"[2] इस तरह प्रेमचन्द, प्रसाद और यशपाल के साथ यदि अन्य कहानीकारों के नाम जोड़ दिए जाते हैं तो वह अधिक साहित्यिक ईमानदारी कहलाई जा सकती है।

इतना ही नहीं, राजेन्द्र यादव को सन् 1950 से पूर्व लिखी गई कहानियों में (जैसे, 'तूफानों के बीच', 'इतिहास के पन्नों पर खून के धब्बे', 'लाल धरती' आदि) सामाजिक चेतना के खौलते रिपोर्ताज़ मिले हैं। इस प्रकार यादव को इन रचनाओं में 'साहित्य और समाज' का भिन्नत्व'[3] नहीं दिखाई देता जो कि

---

1. "(सन् '40—'50 के दौरान) सभी कुछ एक के बाद इस तरह आता गया कि व्यक्ति मन के धरातल पर उस सबका समाहार कथाकार के लिए असम्भव हो गया। उसकी निगाह तेज़ी से बदलती सतह पर ही टिकी रही और वह कहानी के नाम शब्दचित्र 'स्कैच' या 'रिपोर्ताज़' से आगे नहीं बढ़ पाया।"

    ––नई कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना; सं० श्री सुरेन्द्र; पृ० 73।

2. नयी कहानी की भूमिका; कमलेश्वर; पृ० 40।

3. "······लेकिन अपने से अलग हो सकने की दृष्टि और सामाजिक सचेतनता के रूप में उसने आज के सम्पूर्ण साहित्य को एक बहुत बड़ी पृष्ठभूमि अवश्य दी है।"

    —कहानी : स्वरूप और संवेदना; राजेन्द्र यादव; पृ० 40।

नई कहानी की एक विशेषता है। 'नई कहानी' के पक्षधर ये भी मानते हैं कि नई प्रतिभाओं के उदय के सामने, सुझावों में उस समय भी दो प्रकाशस्तंभ अपनी-अपनी जगह खड़े थे—प्रयोगवादी अज्ञेय और प्रगतिवादी यशपाल। इस प्रकार ये आलोचक एक ही समय दो विपरीत बातें कहते हैं—एक ओर उनके पूर्व कहानी-साहित्य में गतिरोध है तो दूसरी ओर यही साहित्य उसके लिए प्रेरणा-स्रोत भी है।[1]

निष्कर्ष : नये कहानीकारों ने जिस हद तक सन् '50 से पूर्व की कहानियों में गतिरोध पाया, वह शंतशः सच नहीं है। सत्य यह है कि तृतीय आयाम के वे कहानीकार जो फ्रायड तथा ऐसे ही दूसरे चिन्तकों से प्रभावित होकर कहानियां लिखते थे, वे अपने ही पात्रों के अन्तस में घूमते फिरते थे और उनक 'केस-हिस्ट्री' लिखते थे। इस प्रकार ये लेखक समाज से बेगाना हो गये। ये कहानियां पूर्णतः व्यक्तिगत हैं। वैसे व्यक्तिगत कहानियां लिखना कोई दोष नहीं हो सकता। आज भी ऐसी कहानियां लिखी जाती हैं, किन्तु देखना यह है कि एक व्यक्ति के संदर्भ (संवेदना) दूसरों से कहां तक जुड़ते हैं, वह व्यक्ति पूर्णतः 'वैयक्तिक' नहीं तो रहता। इस दृष्टिकोण से ये कहानियां संदर्भहीन हैं। नये कहानीकारों को यदि इन कहानियों में गतिरोध दिखाई देता है तो वह स्वाभाविक है। दूसरी ओर प्रगतिवादी कहानीकारों की कई रचनाएं उत्कृष्ट हैं जो कि 'सिद्धान्त-प्रचार' के आरोप से मुक्त हैं। उधर 'अज्ञेय' ने किसी वाद या विचारधारा से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से रचनाएं लिखी हैं। प्रेमचन्द जी पर 'आदर्शवादी' होने का जो आरोप लगाया जाता है, ये कहानी-आलोचक भूल जाते हैं कि उनका युग 'आदर्शवाद' का ही युग था, जिससे उनकी पूर्ववर्ती कहानियों में 'निष्कर्षवादी अन्त' होते थे। किन्तु बाद में परिस्थितियाँ बदलीं, प्रेमचन्द जी ने भी अपने उत्तर काल में यथार्थपरक कहानियां लिखीं जिनमें लेखक की तटस्थ तद्गत दृष्टि दिखाई देती है।

---

1. (क) "नए कहानीकारों ने निस्सन्देह इनसे (यशपाल तथा अज्ञेय) प्रेरणाएं ली हैं।"
—कहानी : नयी कहानी ; डा० नामवर सिंह; पृ० 215।

(ख) राजेन्द्र यादव के शब्दों में, 'आज के कथाकार ने उन्हीं (पुराने कथाकारों की) टूटी-फूटी, विस्मृत और दूर पड़ी परम्परा को ही तो विकास देने की कोशिश की है।"
—संवेदना के बिम्ब ; डा० राजानन्द; पृ० 112।

वास्तव में प्रत्येक अनुवर्ती पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी की रचनात्मक उपलब्धियों का तिरस्कार इसलिए करती है, क्योंकि इस नकार के सहारे वह साहितिहास में स्थापित होने की चेष्टा करती है। पीढ़ियों के संघर्ष के पीछे यह एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है और अपनी पूर्ववर्ती साहित्य की रचनात्मक जड़ता तथा अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के लिए पूर्ववर्ती पीढ़ी के लिए यह तिरस्कारपूर्ण रुख स्वाभाविक है। यही हाल नये कहानीकारों का पुराने कहानीकारों के प्रति रहा और यही रुख साठोत्तरी कहानीकारों ने भी नये कहानीकारों के प्रति अपनाया।

3. नई कहानी : संवेदना तथा वस्तु-चित्रण की विविधता

विज्ञान के उदय से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का निर्माण, मानविकी शास्त्रों का विकास, विश्व-समरोत्तर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि के कारण आधुनिक जीवन-दृष्टि में अनेक परिवर्तन उपस्थित हुए हैं। एक रचनाकार की इस बदलती दृष्टि को रचना के स्तर पर अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा है। यद्यपि प्रत्येक देश की अपनी विशिष्ट जातीय परम्परा है, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिवेश के कारण आधुनिक दृष्टि का बहिर्गत रूप हर विशिष्ट स्थान के संदर्भ में अलग-अलग हो सकता है, किन्तु आज के समूचे विश्व-साहित्य में इन दिनों आधुनिक भाव-बोध की प्रक्रिया का समानान्तर विकास देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में साहित्य को निश्चित ठोस रूपों एवं सीमित कठघरों में विभाजित करना ग़लत साबित हुआ है और एक ही परम्परा में प्रवाहित साहित्य को सुनिश्चित खानों में बांटकर रख देना हास्यास्पद लगता है।

कई आलोचक नई कहानी को रूप के लिहाज से तथा भाव के लिहाज़ से बिखरी तथा अस्पष्ट कहते हैं, वह उन्हें न चरित्र-प्रधान लगती है न घटना-प्रधान। किन्तु 'नई कहानी' कई महत्वपूर्ण आयामों से गुज़री है अब उसका विभाजन शास्त्रीय फार्मूले पर नहीं हो सकता। उन आलोचकों का यह कथन अब हास्यास्पद एवं भ्रामक लगता है।

दरअसल पुरानी कहानी की अपेक्षा नई कहानी का यथार्थ, उसका परिवेश, अनुभवों के संदर्भ आदि—कुल मिलाकर विषय ही अलग है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक जीवन की बुद्धिनिष्ठा, परम्परागत मूल्यों का विघटन, नए जीवन मूल्यों का निर्माण आदि बंधं-बंधाये शास्त्रीय लीकों पर नहीं चल सकते। यही कारण है कि नई कहानी की वस्तु-चित्रण की विविधता बने-बनाये लक्ष्यों एवं ढांचों में नहीं बैठ सकती।

प्रसाद-प्रेमचन्द के पात्रों का जीवन निश्चित मार्ग पर चलने वाला इकहरा जीवन था। उनके पात्र पूर्व-निर्धारित आदर्शों के आलोक में जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु इन चरित्रों की प्रवृत्तियां एवं प्रतिक्रियाएं अब ढल चुकी हैं। आज जीवन की गति इतनी तीव्र है कि प्रत्येक स्थानीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटना के साथ जीवन के प्रेरक संदर्भ बदलते जा रहे हैं। इसलिए समाज से ऊपर उठकर एक महर्षि की तरह जीवन का कोई सुनिश्चित मार्ग निर्धारित नहीं किया जा सकता।[1] आज के गतिशील जीवन में जो कुछ अनुभव किया जाता है, लेखक उन्हीं संदर्भों को रचना के स्तर पर अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न प्रामाणिक धरातल पर करता है।[2] दूसरे शब्दों में उसका कथ्य समाज-सापेक्ष्य है न कि समाज से ऊपर उठकर जीवन के लिए आदर्श निर्धारित करना है। स्पष्ट है नई कहानी का क्षेत्र अत्यंत व्यापक तथा दूसरी ओर अत्यंत सूक्ष्म एवं जटिल होता जा रहा है। जिस प्रकार जीवन की संश्लिष्टता दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है, कहानी की रचनात्मक प्रक्रिया भी जटिल से जटिलतर स्तरों को लांघती हुई आगे बढ़ रही है।

हमारे इस कथन का स्पष्ट निष्कर्ष यही निकलता है कि कहानी का एक प्रमुख तत्त्व लेखक की संवेदनशीलता रही है, इसलिए नई कहानी में 'कथावस्तु' की अपेक्षा 'कथ्य' को महत्व प्राप्त हो रहा है। इस तरह 'नई कहानी' कथ्य के कोण से बदलती रही है जिसके पीछे, नए कलाकार की जीवन के प्रति नवीन दृष्टि, काम करती है।

इस वस्तु-चित्रण की विविधता को देखकर कहानियों का विभाजन 'गांव' या 'शहर' के आधार पर भी किया जाता है। वास्तव में 'नई कहानी' एवं

---

1. "नए पुराने का विवेक दो युग-बोधों की दो दृष्टियों का विवेक है······ एक में ज़िन्दगी से ऊपर होकर सब कुछ सोचा-समझा ही कहा गया है और दूसरे में जो कुछ सोचना-समझना है वह ज़िन्दगी की राह गुज़र कर है······।"

—नयी कहानी : प्रकृति और पाठ; श्री सुरेन्द्र; पृ० 99।

2. "नयी कहानी ने जीवन की संगतियों, विसंगतियों, जटिलताओं और दबावों को महसूस किया—यानी नयी कहानी पहले और मूल रूप में जीवनानुभव है, उसके बाद कहानी है। रास्ता जीवन से साहित्य की ओर हुआ। इसलिए उसने अनुभूति की प्रामाणिकता को रचना-प्रक्रिया का मूल अंश माना। उसने जीवन को उसकी समग्रता में रूपायित किया।"

—नयी कहानी की भूमिका; कमलेश्वर; पृ० 32।

'आँचलिक कहानी' एक ही दिशा की ओर साथ-साथ चली है न कि विपरीत दिशा में। परिवेश की विभिन्नता से कोई रचना श्रेष्ठ या कनिष्ठ प्रमाणित नहीं की जा सकती, बल्कि अच्छी कहानी की पहचान लेखक की जीवन दृष्टि पर अवलंबित होती है।

अत: आज की कहानी की 'वस्तु' समझने के लिए उसका वर्गीकरण कहानी में व्यक्त लेखकों के उस बोध को ध्यान में रखकर करना होगा जिसके आलोक में मानवीय संबंधों के बदलते संदर्भों की पहचान हमें हो रही है।

मानवीय संबंधों की नई दृष्टि से, नई कहानी पिछले बीस-बाईस बरसों के दौरान कई आयामों से गुज़री है। मानव-मानव के सम्बन्ध-सूत्र बदलते-निखरते हैं और फिर उभरते हैं। परंपरागत जीवनदर्शन की असारता, भारतीय संस्कृति की नये युग के संदर्भ में निरर्थकता, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद मोहभंग की स्थिति जीवनादर्शों की अनिश्चितता, व्यक्ति जीवन में अकेलेपन एवं अजनबीपन का एहसास आदि………। ये संदर्भ नयी कहानी की वस्तु-चित्रण के विविध पहलू हैं जिसको प्रामाणिक अनुभूति के विकास पर नई कहानी उकेर देती है।

'नई कहानी' के वस्तु-चित्रण की यह विविधता देखने-समझने के लिए, थीम के आधार पर इन कहानियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(क) स्थापित नैतिक-बोध का विघटन

(ख) स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के बदलते रूप

(ग) भीषण संक्रांति के बोध से घिरा व्यक्ति तथा इसका महत्वपूर्ण मोड़।

(घ) जीवन के शाश्वत-यथार्थ का चित्रण आदि।

आगे इन्हीं आधारों पर 'नई कहानी' का सामान्य परिचय कराया जाता है।

(क) स्थापित नैतिक बोध का विघटन

वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने के कारण जीवन की प्रत्येक घटना को, मानव-मानव के रिश्तों को विशुद्ध रूप से अब बुद्धि-तत्व से परखा जाता है। इसलिए नए सामाजिक संदर्भ में हमारे पुराने परंपरागत मूल्य असार प्रतीत होने लगे हैं। भारतीय नैतिकता की बात करना अब निरर्थक प्रतीक होती है। आज जब इस नैतिकता की बात की जाती है तब वह दुराग्रह के सिवा और कुछ नहीं लगता—संदर्भहीन सामाजिक मूल्यों का नवीन मूल्यों पर आरोपण। आज वे सारे आदर्श बेकार और थोथे प्रतीत होने लगते हैं जो

परंपरा से आये चले हैं। इसके विपरीत व्यावहारिकता ही मान्यता प्राप्त कर चुकी है। ये व्यावहारिक आदर्श अब भीरुता एवं कायरता के पर्याय लगने लगते हैं। इस तरह पुरानी मर्यादाएं आधुनिक संदर्भ में विकृत हो गई हैं।[1]

भारतीय आदर्शों का मंच था 'धर्म' एवं धार्मिक संस्थाएं। जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र का नियंत्रण धर्म के अधीन था। परन्तु आज के युग में धार्मिक व्यवस्था लगभग समाप्त हो चुकी है। वह अब व्यक्ति की अपनी 'प्राइवेट' चीज़ बन गई है—चाहे देश धर्मारूढ़ हो या धर्म-निरपेक्ष। मानव के मानस में धर्म के जो अवशेष मिले हैं वे भी शनैः-शनैः मरते और टूटते जाते हैं। वह धर्म, जिसने हिन्दू समाज को वर्णाश्रम के सीमित कठघरे में बांध रखा था, जिसके नाम पर जहाद होते थे······अब धार्मिक पाखंडों की चालबाज़ी के सिवा और कुछ नहीं लगता है। अब जातिवाद राजनीतिक स्वार्थन्धता का पूरक भाव रह गया है, यह अब आधुनिकता के विपरीत माना जाता है। पहले धर्म का एक ऊंचा स्तर आध्यात्म और आध्यात्मिक दर्शन था, जिसके द्वारा जन्म, जीवन, मृत्यु का विश्लेषण किया जाता था, परंतु अब जीवन-मृत्यु के रहस्य वैज्ञानिक-प्रयोगशालाओं में उद्घाटित हुए हैं और वे जीवन-सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताएं और व्याख्याएं अव्यावहारिक एवं दिग्भ्रान्त हो गई हैं।

परम्परागत मूल्यों का विघटन मानवीय संबंधों की जिन इकाइयों में महसूस किया गया, उनमें परिवार प्रमुख है। यहां प्रस्थापित नैतिकता के कई मूल्य खोखले एवं नकारा साबित हुए हैं। शहर हो या गांव, घर हो या बाहर—सामूहिक संस्थाओं का पारंपरिक महत्व जले हुए मोम की तरह पिघल कर समाप्त हो जाता है (या कहें हुआ भी है) और इसके बदले नवीन युगानुकूल आदर्शों की स्थापना हो रही है। इतना ही नहीं, परिवार के सदस्यों में निकम्मे या अनावश्यक सदस्यों की गिनती नहीं की जाती है। भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' में भी बूढ़ी मां का यही हाल है। मेहमान के लिए कमरा सजाया गया है, फालतू सामान कमरे से बाहर निकाल दिया गया है परन्तु बूढ़ी मां के पुत्र के लिए अब यह समस्या है कि 'बूढ़ी मां' जैसा फ़ालतू सामान कहां रखा जाए।

---

1. "विज्ञान और नवीन शास्त्रों के कारण सत्य की सही व्याख्याएं जैसी-जैसी सामने आ रही हैं हमारे परंपरागत 'सत्य' असत्य में परिपात हो रहे हैं। अब हम इस नतीजे पर पहुंच गए हैं कि हमने जिसे सत्य कहकर पुकारा था वह ज्ञान की सीमा थी।"
—एक दुनिया : समानान्तर; राजेन्द्र यादव; पृ० 23।

संयुक्त परिवार के विघटन के साथ-साथ, 'नई कहानी' ने आगे चलकर परिवार के सम्बन्धों में टूटते मूल्यों के संघर्ष को चित्रित करने वाली कहानियां भी लिखी हैं। परिवार की यह कड़ी पति-पत्नी, बाप-बेटे, मां-बेटे के साथ-साथ ग्रन्य सदस्यों के साथ भी टूटती जाती है।[1]

इस सिलसिले में उषा प्रियंवदा की 'वापसी' पारिवारिक एवं नैतिक बोध के विघटन की कहानी के रूप में उद्धृत की जा सकती है। कहानी के गजाधर बाबू को नौकरी से अवकाश प्राप्त करने पर जब अपने परिवार में जाने का अवसर मिलता है, उसको यह जान लेने में कठिनाई महसूस नहीं होती कि परंपरा से आए हुए वे सारे पारिवारिक रिश्ते विघटित हुए हैं। पत्नी, बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में हासल होकर और घर आकर उसकी सारी आशाओं-आकांक्षाओं पर पानी फिंर जाता है। परिणामस्वरूप वह रिटायर होकर भी प्राइवेट नौकरी तलाश करके फिर घर छोड़कर बाहर एकान्त जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हो जाता है। आश्चर्य नहीं कि यह एक व्यक्ति की अपने ही द्वारा निर्मित अपने ही परिवार से वापसी की कहानी न होकर सारे पुराने मूल्यों से वापसी और एक नई दिशा और राह पर चलने की कहानी है।

मन्नू भंडारी की कहानी 'क्षय' भी पारिवारिक रिश्तों की बदलती हुई कहानी के तौर पर देखी जा सकती है। प्रस्तुत कहानी में कुन्ती का पिता क्षय के रोग से ग्रस्त है। वह दिन को नौकरी करती है, लौटकर घर में अकेली अनेक काम करने के लिए विवश है। उसको क्षयग्रस्त पिता की देख-रेख भी करनी पड़ती है। अपने पिता की सेवा एवं देख-रेख करके वह तंग आकर उसकी मृत्यु की कामना करने में नहीं हिचकिचाती।

परिवार टूटते जा रहे हैं और उन्हें एकत्रित होने के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते हैं। 'नई कहानी' ने इन टूटते-बिखरते मूल्यों के अनेक चित्र उपस्थित किए हैं। उपरोक्त कहानियों के अतिरिक्त राजेन्द्र यादव की 'फ्रैंच

1. "पुत्र अब परलोक के लिए नहीं, इहलोक के लिए ज़रूरी हो गया है, क्योंकि वृद्धावस्था की कोई सुरक्षा आज के वृद्ध के पास नहीं है...... इससे सम्बन्धों में अनवरत तनाव और जीवन की व्यर्थता का बोध ही आज की पुरानी पीढ़ी का बोध है। ......पुत्र के लिए पुरानी आवरण-संहिता बेमानी हो चुकी है। वह कुछ संवेदना और कुछ दया से भरकर ही परिवार के वृद्ध को स्वीकार करता है।"
—नयी कहानी की भूमिका; कमलेश्वर; पृ० 158।

लेदर', 'प्रतीक्षा' और 'जहां लक्ष्मी कैद है', मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', गिरीराज किशोर की 'पेपर वेट', निर्मल वर्मा की 'लवर्ज़' तथा ऐसी ही अनेक कहानियां प्रस्थापित नैतिक-बोध के विघटन की कहानियां हैं।

(ख) स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के बदलते रूप

जिस प्रकार परम्परागत मूल्यों का विघटन हो रहा है, संयुक्त परिवार की संस्था टूट रही है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में भी परिवर्तन आ रहा है। दिन-व-दिन उनके सम्बन्धों में तनाव पैदा हो रहा है। यही कारण है कि आजकल कोई स्वस्थ प्रेम-कहानी नहीं लिखी जाती है, भले ही वह सैक्स-प्रधान कहानी हो। पारिवारिक मूल्यों की संक्रन्ति अवस्था में गुज़रता हुआ भारतीय परिवार स्त्री-पुरुष के आपसी तनाव को बड़ी द्रुतगति से महसूस कर रहा है। इसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि हमारे समाज की वह आदर्शा नारी (जिसका पति उसके लिए सब कुछ होता था, जिसकी वह सच्चे मानों में पत्नी होती थी), अब वह परम्परागत 'टैकूज़' से ऊपर उठ कर एक समस्या के रूप में खड़ी है। पति और पत्नी के रिश्तों में अमूलाग्र परिवर्तन उपस्थित हुए हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात्, स्वराज एवं लोकतंत्र प्रतिष्ठापित होकर, भारतीय नारी कानूनी और आर्थिक लिहाज़ से अब स्वतंत्र है। इस स्वतंत्रता ने उसे अपने योग्य पुरुष चुनने तथा अयोग्य पुरुष ठुकराने की शक्ति दी है। इसी कारण परंपरागत विवाह-संस्था नाकारा साबित होने लगी है। एक ओर पुरुष स्वतंत्र रूप से सेक्स जीवन की मांग कर रहा है तो दूसरी ओर स्त्री विवाह-संस्था को अपने व्यक्तित्व के अनुसार तोड़ना-मरोड़ना चाहती है। इन दो मांगों के आपसी तनाव पर कई प्रश्न उठते हैं। प्रत्येक उत्तर नित नए प्रश्न का निर्माण कर रहा है और फलत: समस्याओं का नैरन्तर्य चालू है।

नारी पूर्ण-रूपेण पुरुष से अलग नहीं रहना चाहती, क्योंकि इन दोनों का साथ-साथ रहना एक प्राकृतिक आवश्यकता है। फिर भी नारी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को सुरक्षित रखना चाहती है। 'पतिव्रता' उसका विश्वास लुप्त होता जा रहा है या हो गया है। जभी तो विवाह-संस्था के पुनर्मूल्यांकन की तीव्रता बढ़ी है।

उधर पुरुष को भी इस उपादेयता का एहसास होने लगा है, लेकिन एक भारतीय पुरुष अब भी स्त्री के पूर्ण व्यक्तित्व को अपने मानसिक स्तर पर स्वीकृति देने के लिए तैयार नहीं है। वह स्वयं सेक्स की होली पराई स्त्री से

खेलना चाहेगा, लेकिन दूसरी ओर विवाह-संस्था को पवित्र मानकर भी वह केवल नारी से ही 'पतिव्रता' और 'पवित्रता' की मांग करना चाहेगा। इस प्रकार उसका सहयोग स्त्री से एकतरफा है। अपनी शारीरिक एवं मानसिक सुविधा एवं सन्तोष हेतु, वह 'पत्नी' की अपेक्षा एक 'पार्टनर' चाहता है। अपनी ज़िन्दगी के सभी क्षण पत्नी के साथ ही बिताने की आरोपित जिम्मेदारी को वह झेलना नहीं चाहता। इन दोनों के मानस में एक दूसरे के प्रति पारंपरिक रूप तहस-नहस हो रहा है। पति-पत्नी की इकाई इस तरह अर्द्ध-इकाई में परिवर्तित हुई है।[1]

मन्नू भंडारी की 'तीसरा आदमी' और 'यही सच है', जैसी कहानियों में स्त्री-पुरुष के बदलते रिश्तों का यथार्थ चित्रण हुआ है। प्रथम कहानी में एक तिकोण है जिसके किनारे सतीश (पति), शकुन (पत्नी) और आलोकनाथ (पत्नी का मित्र) हैं। यहां पत्नी केवल पति की ही नहीं रहना चाहती बल्कि दूसरे लोगों से भी सम्पर्क बनाए रखने में नहीं हिचकिचाती, जिनमें आलोकनाथ भी एक है। आलोकनाथ शकुन (पत्नी) का प्रिय लेखक है। उसने अत्यन्त आग्रह से उसको अपने यहां आमंत्रित किया है। इस सिलसिले में वह बड़े जोश से कमरे को सजा रही है। वह यह भी चाहती है कि सतीश (उसका पति) भी आलोकनाथ के उनके यहां आने की प्रसन्नता में उत्साह दिखाए।[2] इतना ही नहीं, सतीश की अनुपस्थिति में वह कमरा बन्द करके उसके साथ घंटों बातें करती रहती है। इसी प्रकार 'यही सत्य है' में मन्नू भंडारी ने एक नारी के दो रूप दिखाए हैं। एक रूप वह है जबकि वह निशीथ की कभी

---

1. "चौबीस घंटे निर्भर रहने वाली स्त्री के प्रति पति के दृष्टिकोण में एक हिकारत है और उसे अब मात्र बोझ की तरह ढोता है—घर-गृहस्थी में लिप्त मनुष्य की तरह नहीं। इस स्थिति ने पति और पत्नी की इकाई को दो अर्द्ध-इकाइयों में बदल दिया है और अब ये अर्द्ध-इकाइयां अपने परिवेश से जीवन के संगत मूल्यों और पद्धतियों को चुनकर (साथ-साथ रहते हुए) स्वतंत्र और परिपूर्ण इकाई बन सकने की दिशा में अग्रसर हैं।"
—नयी कहानी की भूमिका; कमलेश्वर; पृ० 159।
2. हाथ में झाड़ू लिए ही शकुन ने उसे भरपूर नज़रों से देखा, "देख रही हूं तुम्हें आलोकजी का आना अच्छा नहीं लग रहा है।"
—'तीसरा आदमी' : मन्नू भंडारी; दे० यही सच है और अन्य कहानियां; पृ० 27।

प्रेमिका थी। निशीथ के विश्वासघात के कारण वह उससे प्रेम-सम्बन्ध तोड़ती है और नए सिरे से एक नए प्रेमी के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। बीच में ही उसको अपने भूतपूर्व प्रेमी से मिलने का संयोग होता है। उस समय वह उसके शिष्ट व्यवहार से या अपनी नैतिक कमजोरी के कारण अपने नवीन प्रेमी को भूलकर उसी की होना चाहती है। किन्तु बाद में हम उसे फिर नवीन प्रेमी के आलिंगन पाश में बंधे पाते हैं।

आज की कहानियों में स्त्री-पुरुष के जो काम-सम्बन्ध हैं उनमें परिवेशगत सच्चाई का निकष और सूक्ष्म अनुभवों की प्रामाणिकता है।[1] आधुनिक कहानीकार जिन्दगी को भोगता रहा है, उसका संवेदनशील मस्तिष्क स्त्री-पुरुष के आधुनिक परिवेश का अनुभव कर रहा है। अतः कहानीकार के ये काम-वर्णन स्वस्थ, प्रामाणिक एवं सूक्ष्म हैं। अब यह स्वतंत्र काम-मुक्ति पाप न मानकर जीवन की आवश्यकता समझी जाती है।

उपरोक्त कहानियों के अतिरिक्त दूधनाथ सिंह की 'सब ठीक हो जाएगा', यादव की 'टूटना' तथा 'मेहमान', मोहन राकेश की 'एक और जिन्दगी', मन्नू भंडारी की 'चश्मे', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी', निर्मल वर्मा की 'पिता और प्रेमी', कमलेश्वर की 'राजा निरवंसिया', उषा प्रियंवदा की 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' आदि कहानियों में स्त्री-पुरुष के बदलते सम्बन्धों का सूक्ष्म एवं प्रामाणिक चित्रण हुआ है।

(ग) भीषण संक्रान्ति-बोध से घिरा व्यक्ति तथा इसका महत्वपूर्ण मोड़

स्वातंत्र्योत्तर कथाकार ने मोहभंग की स्थिति का बारीकी से अनुभव किया, जिससे उसके मन में अपने इर्द-गिर्द के सामाजिक जगत के प्रति भयंकर घृणा पैदा हुई। इसके बावजूद वह इसी दुनिया में जीने के लिए अभिशप्त है, यह इसकी विवशता के सिवा और कुछ नहीं। आज़ादी से पूर्व स्वतंत्र भारत की जो तस्वीर सामान्य आदमी की तरह एक संवेदनशील कहानीकार ने परिकल्पित की थी, उसका यथार्थ भारत से कोई मेल होते नहीं दिखाई देता था।

---

1. दूधनाथ सिंह की कहानी में रति-प्रक्रिया का सूक्ष्म वर्णन इस प्रकार हुआ है :—
(स्त्री का कथन है) "क्या तुम्हें कभी इतना सुख मिला है ? क्या तुम इस तरह किसी और के साथ……ठीक इसी तरह……? छि: !……हां……हां, मेरे तो छोटे हैं……उसके कितने बड़े हैं……बीच में जगह थी या दोनों मिल गए थे।"
—संवेदना के बिम्ब; डॉ० राजानन्द; पृ० 150।

उसके संजोए हुए वे सारे सपने चूर-चूर होने लगे और उन्होंने अत्यन्त ही भयंकर निराशा का रूप धारण कर लिया। परिणामस्वरूप निराशा से ग्रस्त अपनी नियति को भोगता हुआ कथाकार अपने मानसिक जगत से उद्भूत संवेदना को रचनात्मक स्वर देने लगा। इस अभिव्यक्ति में जिन पात्रों के चित्र उभरे हैं वे घिनौने और हीनता से ग्रस्त हैं। कहानीकार के टूटे एवं निराशामय मानसिक जगत की ही तरह उसका बाह्य-जगत भी टूटने लगा और इस प्रकार उसने टूटते हुए सामाजिक-जीवन के चित्र अपनी कई रचनाओं में उभारे। स्वातंत्र्योत्तर कथाकार ने सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करके, अधिक नीचे जाकर, मानव-स्थिति के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण और मूलाग्र प्रश्न उठाए, जिनमें सैक्स सम्बन्धी, स्त्री-पुरुष सम्बन्धी तथा धर्म सम्बन्धी प्रश्न मुख्य थे। हर प्रश्न का उत्तर पुनः प्रश्न बनता गया और इस तरह प्रश्नों की लड़ी बनती रही। इन प्रश्नों का स्वरूप चौंका देने वाला था। परम्परा के प्रत्येक मूल्य के सम्मुख एक प्रश्न-चिन्ह लग गया जिससे चारों ओर एक प्रकार की अराजकता महसूस होने लगी। ये प्रश्न इतने सच थे, इनके पीछे ऐसे वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक तर्क थे कि इन पर अविश्वास प्रकट नहीं किया जा सकता था। जीवन-विषयक परम्परागत धारणा टूट रही थी और नवीन धारणा बनने के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। हमारा सामाजिक-जीवन दब रहा था। परिणामतः इस समाज में एक ऐसा व्यक्ति उभरने लगा जिसकी अपनी संवेदनशीलता जैसे खो गई थी, उसके इर्द-गिर्द की घटनाएं उसको स्पर्श न करती, जैसे जीवन का कुछ महत्वपूर्ण तत्व उसके हाथ से फिसल रहा था।

यह व्यक्ति बिल्कुल जड़ भी नहीं बन गया है, बल्कि वह नई नैतिकता के लिए छटपटा रहा है; ऐसी नैतिकता के लिए जो आधुनिक-बोध के साथ समुचित व्यावहारिक संतुलन पैदा कर सके। किन्तु उसकी यह छटपटाहट व्यर्थ होती जा रही है, उसका बाहरी जगत उसके साथ नहीं है। आधुनिक दृष्टि का वरदान उसके लिए भीषण संकट-बोध का अभिशाप बन गया है। इस संक्रमण की प्रक्रिया से गुज़रता हुआ यह मनुष्य संकट-बोध की स्थिति में है। क्षोभ और उदासीनता की यातनाओं में गुज़रता हुआ एक सामान्य भारतीय अपने आपको अयोग्य समझता है। एक ओर न वह पुराने मूल्यों से चिपका है, तो दूसरी ओर नये मूल्यों से वह पूर्णरूपेण सामंजस्य करने में भी असमर्थ है। इस तरह वह एक अजीब दुविधा में खड़ा है। नये कहानीकारों ने संक्रन्ति से घिरे व्यक्ति के चित्रण निर्ममता से उकेरे हैं।

(घ) जीवन के शाश्वत-यथार्थ का चित्रण

ज़िन्दगी के संकट-बोध की यातना को झेलता हुआ आधुनिक व्यक्ति ज़िन्दगी से पूर्णतः कटा हुआ नहीं है, अपितु मृत्यु-बोध, संत्रास की भयावह यातनाओं को झेलता हुआ ज़िन्दगी के रहस्य को पाने की कोशिश में लगा हुआ है। जीवन की यह जिजीविषा नई कहानी के उन पात्रों में मौजूद है जो अपनी सीमित ज़िन्दगी में जीवन-बोध के रहस्य को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं। ये पात्र औसत प्रकार के हैं और उनका जीवन सामान्य है। ज़िन्दगी की कठिनाइयों व यातनाओं को भोगते हुए वे आनन्द लेते रहते हैं और उनकी ऐसी स्थिति आ जाती है जहां पहुंचकर मनुष्य केवल 'मनुष्य' रह जाता है। उसकी झूठी प्रतिष्ठा, नाम, प्रसिद्धि आदि समाप्त हो जाती है। ये बाहरी रुतबे एक प्रकार से समाप्त हो जाते हैं। फिर भी मनुष्य जीवन संकट-बोध की यातनाओं को झेलना चाहता है।

'अमरकान्त' की कहानी 'दोपहर का भोजन' संकट-बोध के शाश्वत यथार्थ को उकेर देती है। कहानी का आरम्भ ही दिल को पसीज लेता है।[1] फिर भी वह जीवन सिद्धेश्वरी जैसे-तैसे अपने पति तथा बच्चों सहित व्यतीत करती है। उन्हें पेट-भर खाना नहीं मिलता, पहनने को कपड़े नहीं मिलते;……केवल कहानी में हंसते-हंसते जीवन बिताने की दुर्गन्ध इच्छा मृत्यु को झेलने की क्षमता प्रदान करती है।[2]

इस तरह ज़िन्दा रहने के इस रहस्य को जानने के लिए ये पात्र अपने भीतर और बाहर की दुनिया से लड़ते हैं। हर आदमी अपने लिए जीता हुआ

---

1. "……अचानक उसे मालूम हुआ कि बहुत देर से उसे प्यास लगी है। वह मतवाले की तरह उठी और गगरे से लोटा भर पानी लेकर गट-गट चढ़ा गई। खाली पानी उसके कलेजे में लग गया और वह 'हाय राम!' कहकर वहीं ज़मीन पर लेट गई।"
   —नई कहानी : प्रकृति और पाठ; श्री सुरेन्द्र; पृ० 107।
2. "मुंशी जी ने उत्साह के साथ कहा—"तो थोड़े गुड़ का ठंडा रस बनाओ, पीऊंगा। तुम्हारी कसम भी रह जाएगी, ज़ायका भी बदल जाएगा, साथ ही साथ हाज़िमा भी दुरुस्त होगा। हां, रोटी खाते-खाते नाक में दम आ गया है।"—यह कहकर वे ठहाका मारकर हंस पड़े।"
   —दोपहर का भोजन; अमरकान्त (नई कहानी; प्रकृति और पाठ; पृ० 112)।

दूसरों के लिए भी जीने लगता है। इस सारे के पीछे एक प्रकृति बोध होता है जिसके साथ जुड़कर मनुष्य की अन्तरात्मा मचल उठती है और इस समय जीवन की यथार्थ एवं शाश्वत भावभूमि पर खड़ा रहकर जीने की कामना का आनन्द लेता है।[1]

'दोपहर का भोजन' के अतिरिक्त अमरकान्त की ही 'ज़िन्दगी और जोंक' धर्मवीर भारती की 'गुल की बन्नो', भीष्म साहनी की 'खून का रिश्ता', मार्कण्डेय की 'दूध और दवा', रमेश बक्षी की 'कुछ बच्चे : कुछ माएं', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', कमलेश्वर की 'नीली झील', रेणु की 'तीसरी क़सम', यादव की 'सम्बन्ध' और 'एक कटी हुई कहानी' तथा अन्य अनेक कहानियां जीवन के शाश्वत यथार्थ की प्रतीति करवाते हैं।

(ग) (अ) आंचलिक कहानी

आंचलिकता का आग्रह भी 'नयी कहानी' के मुख्य आग्रहों में एक है। प्राय: आँचलिक कहानी को ग्रामकथा से सम्बद्ध किया जाता है और इसकी परम्परा प्रेमचन्द-कालीन तथा इससे पूर्व की कहानियों में ढूंढी जाती है। यहां आरम्भ में यह कहना अनुचित न होगा कि ग्रामकथा ही अनिवार्यत: आंचलिक कहानी नहीं होती है। कई आलोचक ग्रामकथा का अर्थ व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं जबकि आंचलिकता को एक प्रवृत्ति-भाव में लिया जाता है।[2]

---

1. "सारा घर मक्खियों से भनभन कर रहा था। आंगन की अलगनी पर एक गंदी साड़ी टंगी थी, जिसमें कई पैबन्द लगे हुए थे। दोनों बड़े लड़कों का कहीं पता नहीं था। बाहर की कोठरी में मुंशी जी औंधे मुंह होकर निश्चितता के साथ सो रहे थे, जैसे डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया-नियंत्रण विभाग की कलर्की से उनकी छंटनी न हुई हो और शाम को उनको काम की तलाश में कहीं जाना न हो!......"
—दोपहर का भोजन; अमरकान्त (नई कहानी; प्रकृति और पाठ; श्री सुरेन्द्र; पृ० 113)।

2. "ग्रामकथा ज्यादा व्यापक और उपयुक्त शब्द है। आंचलिकता एक प्रवृत्ति मात्र है, ग्राम कथाएं सभी आंचलिक नहीं होतीं।"
—आज की हिन्दी कहानी : प्रगति और परिमिति; शिवप्रसाद सिंह (दे० नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति—संपादक डॉ० देवीशंकर अवस्थी; पृ० 143)।

यह एक विवादास्पद विषय है कि आंचलिक कहानियों की परम्परा कहां से मानी जाए किन्तु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में जिन आंचलिक कहानियों पर विचार किया गया है वे स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक कहानियां हैं और जिनकी चर्चा फणीश्वरनाथ रेणु की कृति 'मैला आंचल' के प्रकाशन के साथ प्रारम्भ हुई है। आंचलिक शब्द स्वयं रेणु जी का दिया हुआ शब्द है, जिसका प्रयोग 'मैला आंचल' की भूमिका में किया गया है। इसके बाद हिन्दी के समीक्षकों ने इसको मान्यता देते हुए आंचलिकता की घोषणा कर दी।

डॉ० शिव प्रसाद सिंह आंचलिक कहानी की परिभाषा स्थिर करने की कोशिश करते हुए कहते हैं, "आंचलिक वे ही कहानियां कही जा सकती हैं जो किसी जनपद के जीवन, रहन-सहन, भाषा-मुहावरे, रूढ़ियों-अन्धविश्वासों, पर्व-उत्सव, लोक-जीवन, गीत-नृत्य आदि को चित्रित करना ही अपना मुख्य उद्देश्य मानें।"[1] यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आंचलिकता का संबंध कहानी में कथानक या कथावस्तु से नहीं है। ······कहानी की सामग्री की निर्माण प्रक्रिया के साधन-रूप में ही उसका उपयोग किया जा सकता है। अर्थात् वह लक्ष्य नहीं है, उसे लक्ष्य मानने से कई प्रकार की भ्रान्तियां उपस्थित हो सकती हैं। आंचलिक कहानीकार के लिए विशेष अंचल का नहीं, विशेष ग्रहणशीलता का होना चाहिए जिसके लिए जीवन का कोई पक्ष वास्तविक जीवन का कोई परिप्रेक्ष्य समानतः स्वीकार्य और महत्वपूर्ण है। इस प्रकार कहानी की आंचलिकता का सम्बन्ध 'निर्वाह' एवं 'एप्रोच' से है, कहानी के स्थानीय रंग से है, उसे कथानक में ढूंढ़ना व्यर्थ है। इस दृष्टि से देखा जाए आंचलिकता ग्राम-कथानकों की पुनर्प्रतिष्ठा भर नहीं है। अंचल नगर का हो या ग्राम का, इन कहानियों में आधुनिक संवेदना को व्यक्त करने की चेतना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यह केवल संयोग है कि नए कहानीकारों की अधिकांश कहानियां ग्रामांचल से सम्बन्धित हैं, यद्यपि शहर या कस्बे का अंचल भी इन्होंने अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह जैसे आलोचक आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ग्राम-जीवन को कहीं अधिक उर्वर और उपयुक्त क्षेत्र मानते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि नगर या कस्बे से सम्बन्धित आंचलिक कहानियों में भी आधुनिक

1. आज की हिन्दी कहानी : प्रगति और परिमिति : शिवप्रसाद सिंह (दे० नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति; सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी; पृ० 143-44)।

संवेदना, युगीन मनुष्य के जीवन-संघर्ष का चित्र, यथार्थ-बोध, युग-संत्रास···
···आदि मिलेगा जो कि नई कहानी की निजी विशेषताएं हैं।

(ब) ग्रामीण आंचलिकता

ग्रामीण आंचलिकता हो या नागरिक, यहां लेखक का सम्बन्ध आधुनिक संवेदना, विषय एवं समस्याओं के प्रति कहानीकार का 'एप्रोच' एवं 'निर्वाह' से है। किसी जनपद के जीवन, रहन-सहन, भाषा-मुहावरे, रूढ़ियों-अन्ध-विश्वासों, पर्व-उत्सवों आदि का चित्रण करके एक आंचलिक कहानीकार जीवन-सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डालता है, अन्धविश्वासों पर व्यंग्य करता है, किसी अंचल की भाषा-विशेष में बात करके, उन लोगों से निकटता दिखाकर वह अपनी संवेदना संप्रेषित करता है। उदाहरणार्थ 'एक आदिम रात्रि की महक'[1] में संथाल परगना में मनाए जाने वाले एक पर्व-उत्सव का वर्णन करके वहां के व्यक्तियों की वृत्ति एवं संस्कृति का परिचय दिया गया है। इस विशेष उत्सव पर उत्पन्न होने वाले शिशु का नामकरण भी उसी पर्व के नामकरण के अनुसार कर दिया जाता है। इसी प्रकार, 'तिर्थोयक'[2] में, विहार प्रान्त में दुर्गा पूजा के अवसर पर सामाजिक समारोह मनाए जाने का वर्णन है। किसी अंचल विशेष के अनुसार राज्य के विधिनियम भी होते हैं। चूंकि यहां 'दुर्गा' की अधिक मान्यता है, इसलिए शिक्षण-संस्थाओं में इसी पर्व पर अधिक दिनों का अवकाश भी किया जाता है। इसी तरह अन्य कई आंचलिक कहानियों में भी जनपद-विशेष के पर्व-उत्सवों का कलात्मक वर्णन करके वहां के स्थानीय लोगों की वृत्तियों एवं अन्धविश्वासों पर व्यंग्य किया गया है। 'रेणु' की 'रसप्रिया'[3], 'सिरपंचमी का सगुन'[4] तथा 'उद्घाटन'[5], शैलेश

---

1. 'एक आदिम रात्रि की महक' (नई कहानियां, नवम्बर 1964 ई०); पृ० 129।
2. तीर्थोयक; (ठुमरी, द्वितीय संस्करण, 1964 ई०); पृ० 26।
3. ठुमरी (1964 ई०); पृ० 19।
4. "खीरा खरीदकर खाते समय उसको बचपन के एक खेल की याद आयी थी। बच्चे खीरा-ककड़ी के बीज को अंगुलियों में दबाकर कहते, फलान की शादी किधर होगी ? बीज छिटककर जिस ओर गिरे। उधर ही। उसी दिशा में।" —ठुमरी; पृ० 92।
5. ज्ञानोदय (नवम्बर, '64 ई०); पृ० 37।

मटियानी की 'पोस्टमैन'[1] व 'ऋण'[2] तथा अन्य अनेक कहानियां इस बात की पुष्टि करती हैं।

यातायात के सुगम साधनों से शहर तथा गांव का अन्तर कम होता जा रहा है। अत: ग्रामीण का शहरी जीवन से, वहां के क्रिया-कलाप आदि से प्रभावित होना एक स्वाभाविक बात है। नगर में प्रत्येक वस्तु पैसे से तोली जाती है, वहां पैसे कमाने की निरन्तर होड़ है। उधर एक ग्रामीण देखता है कि दिन-रात खेती करने पर भी वह अच्छी तरह दिन नहीं काटता, इसलिए ग्राम छोड़कर वह शहर आकर नौकर बनना उचित समझता है। 'उद्‌घाटन' का 'रामविलास' एक ग्रामीण युवक है जो अपना गांव छोड़कर पटना शहर में आकर 'फोटोवाला-रिक्शा डलेवरी लाइसेन्स' रखने का अधिकारी बन जाता है। गांववालों द्वारा अपनी नौकरी की प्रशंसा सुनकर वह फूले नहीं समाता और कई युवक उससे प्रार्थना करते हैं कि वह भी उन्हें शहर साथ ले जाए।[3] इस कहानी में लेखक ने जिन ग्रामांचलीय शब्दों का प्रयोग किया है, उनका अपना अलग महत्व है। स्थानीय भाषा-मुहावरों का प्रयोग करके एक आंचलिक कहानी-लेखक हमें उस माहौल के निकट लाता है, जिस वातावरण को वह हमारे सम्मुख रखना चाहता है। इस प्रकार उसके पात्र यथार्थ-सृष्टि के जीवित लोग लगते हैं और कहानियों में स्थानीय रंग आता है। इस सिल-सिले में डॉ० वार्ष्णेय ने 'रेणु' की कहानी-कला की आलोचना करते हुए जो कहा है वह प्राय: सभी आंचलिक कहानीकारों की एक विशेषता मानी जा सकती है।[4] यथार्थ का कलात्मक पुट देने तथा कहानियों में स्थानीय रंग भर

---

1. मेरी तेतीस कहानियां; शैलेश मटियानी; पृ० 112।
2. मेरी तेतीस कहानियां; पृ० 36।
3. "राम विलास भैया, इस बार आपके साथ मैं भी जाऊंगा !!......मैं भी!!! यहां साल भर हल वाही करते हैं सिर्फ एक सौ साठ रुपए में। वहां एक महीने में दो सौ ?......राम विलास काका, मैं भी......राम विलास पाहुन मुझे मत भूलिएगा। रिक्शा डेलवरी नहीं तो किसी होटल में ही रखवा दीजिएगा। ......साला, हम चिनियां-बादाम बेचेंगे। ......मामा, आप उस दिन कह रहे थे कि रद्दी कागज, शीशी-बोतल का कारबार भी खूब नफा वाला होता है।"
—उद्‌घाटन; फणीश्वरनाथ रेणू (ज्ञानोदय, नवम्बर, 1964 ई०); पृ०37।
4. "रेणु के पास ध्वनि यंत्र भी है जिसके माध्यम से उन्होंने इस अंचल (पूर्णिया प्रान्त) की गायों की चलने की आवाज़, पेड़-पत्तों के हिलने की

देने की प्रवृत्ति हिन्दी कहानियों में बढ़ती जा रही है। इस सन्दर्भ में शिवप्रसाद सिंह की 'एक वापसी और'[1], मार्कण्डेय की 'युद्ध'[2], शैलेश मटियानी की 'नेताजी की चुटिया'[3] और 'अतीत'[4], भैरव प्रसाद गुप्त की 'मंगली की टिकुली'[5], आलम खान की 'एक और सीता'[6], रामकुमार त्रिपाठी की 'फूला'[7], असगर घजाहत की 'खुशबू'[8] इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

(स) नागरिक आंचलिकता

आंचलिक कहानियों का 'कैनवास' ग्रामांचाल तक ही सीमित नहीं किया गया है, बल्कि इसके साथ-साथ नगरों एवं कस्बों की सशक्त आंचलिक कहानियां भी लिखी गई हैं। इन कहानियों में नागरिक जीवन की संश्लिष्टता, भयावहता, ऊल-जलूलपन, नगरों में चल रही आर्थिक गुटबन्दी, संकीर्ण स्वार्थों की कशमकश, व्यक्ति की मानसिक समस्याएं, वर्ग-विशेष की वृत्तियां, उनकी भाषा-मुहावरे तथा अन्य अनेक विषय आंचलिकता के रंग में प्रस्तुत किए गए हैं। पीछे जिन आंचलिक कहानीकारों के नाम आए हैं, उन्होंने जहां एक ओर ग्रामांचल-सम्बन्धी कहानियां लिखी हैं वहां दूसरी ओर नगरों से सम्बन्धित श्रेष्ठ आंचलिक कहानियां भी प्रस्तुत की हैं। इस तरह ये लेखक कई आलोचकों के इस कथन का अतिक्रमण करते हैं कि 'ग्रामांचल' ही आंचलिक कहानी के लिए उर्वर है।

इन कहानियों में महानगरों में रहने वाले निम्न-वर्ग के संघर्ष-जीवी जन-जीवन के बहुत ही यथार्थ चित्र खींचे गए हैं। बम्बई जैसे नगर में एक सामान्य नागरिक को छल-कपट, धोखा-फरेब, व्यापार, मशीनों की गड़गड़ाहट······

ध्वनि, नाक सुकड़ने और छींकने की आवाजें, हंसुलियों और झांझनों के बजने, कंगनों की खनक तक इर्त्त कर दी है।"

—आधुनिक कहानी का परिपार्श्व : डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; पृ॰ 145।

1. कल्पना (जनवरी, '66); पृ॰ 9।
2. कल्पना (दिसम्बर, '67); पृ॰ 22।
3. कल्पना (दिसम्बर, '68); पृ॰ 29।
4. कल्पना (मार्च, '69); पृ॰ 12।
5. सारिका (जुलाई, '72); पृ॰ 36।
6. —वही—(जुलाई, '72); पृ॰ 24।
7. —वही—(जुलाई, '72); पृ॰ 56।
8. —वही—; पृ॰ 72।

आदि का सामना नित्य करना पड़ता है। वह इस वातावरण से ऊबकर भी इसी में जीता-रहना चाहता है क्योंकि जीना भी एक मजबूरी है। दिन-भर मजदूरी-नौकरी करके, ऐसे लोग घर के अभाव के कारण बड़ी-बड़ी पाइपों को विश्राम-स्थल, क्रीड़ा-स्थल, प्रसूति-स्थल आदि बनाकर जीवन व्यतीत करते हैं।[1] कहीं-कहीं इससे भी अधिक दारुण चित्र मिलते हैं। एक संकीर्ण कमरे में घर के सभी सदस्यों को उठना-बैठना, खाना-पीना तथा सोना पड़ता है। इसलिए बेचारा वृद्ध पिता तब तक घर नहीं लौट सकता है, बेटा-बहू जब तक सो न जायें।[2]

महानगर के भिखारियों का जीवन फ्रॉड तथा होड़ से भरा हुआ होता है। इस कथन का परिचय शैलेश मटियानी की कहानी 'प्यास'[3] से होता है। नगर के भिखारियों का रहन-सहन, उनकी वेश-भूषा, भाषा-मुहावरे आदि में अपना आंचलिक रंग होता है। चोरी करने में निपुणता प्राप्त करना, पुलिसवालों की मार खा-खाकर अपनी हड्डियां सख़्त बनाना, अपने बच्चों को चोरी की कला सिखाना तथा उनका क्रय-विक्रय करना—ये उनके मुख्य काम-धन्धे होते हैं। पुलिसवालों की ओर से उनकी मारपीट तथा अमानुषिक व्यवहार पाठक के शरीर में कंपन उत्पन्न करता है।[4] ये लोग मार खाने तथा अन्य यातनाएं सहन करने के इतने आदी हो गए हैं कि लगता है ये मनुष्य नहीं, इस्पात के अपूर्व यंत्र हो गये हैं। इनकी अपनी अलग भाषा है, बोलने का विशेष ढंग है। सभ्य शहर में रहने वाले ये लोग जठराग्नि शांत करने के लिए यंत्र की तरह दिन-भर विश्राम किए बिना भिक्षावृत्ति करते हैं और रात को कुत्तों की तरह फुटपाथों पर लेटे रहते हैं। पांडुरंग मामा (भिखारी) सड़क से उठाए गए

---

1. 'एक कप चा दो खारी बिस्कुट' : शैलेश मटियानी; दे० मेरी तेतीस कहानियां; पृ० 85।
2. संध्या लहरें और वे दोनों : सोमा वीरा (दे० धरती की बेटी); पृ० 99।
3. मेरी प्रिय कहानियां; शैलेश मटियानी; पृ० 13।
4. "टखने की हड्डी पर डंडा मारने से शंकरिया को अपना सारा शरीर इतनी तेज़ी से झनझनाता हुआ लगा, जैसे किसी ने ठीक आंखों के सामने फुलझड़ी जला दी हो। जैसे किसी वीरान अंधेरे में पतझड़ के गिरे पत्ते जल रहे हों, ऐसे उसे अपनी देह का रोम-रोम सुलगता हुआ महसूस हुआ और उसने अपने हाथ-पांवों को एक तेज़ झटके के साथ ऐसे हिलाया, जैसे गर्दन कटा हुआ बकरा बड़ी देर तक जमीन पर छटपटाता रहता है।" —प्यास : शैलेश मटियानी; दे० मेरी प्रिय कहानियां; पृ० 13।

शंकरिया नामक बच्चे का विक्रय कृष्णा बाई (भिखारिन) को करता है। इस प्रकार कुछ रुपए प्राप्त करके वह एक होटल में जाकर इनका तंदूरी मुर्गा उड़ा देता है। उसके इस कथन में, "अस्स-स्साली इंसान के गोश्त की कमाई मुर्गे के गोश्त में गंवाई,"[1] कितना कटु सत्य मौजूद है।

ये लोग चोरी-डकैती की कला में इतने निपुण हो जाते हैं कि यह इनका प्रिय पेशा बन जाता है। उनसे जब दया, ममता एवं करुणा की सीमा से परे अमानुषिक व्यवहार होता है तो उन्हें 'दादागिरी की सनद'[2] मिलती है।

नगरों में आर्थिक-विवशताओं से ग्रस्त स्त्री-जाति को हीन कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। स्त्री-जाति का एक वर्ग सभ्य रूप का आवरण लेकर अपनी आजीविका कमाता है। दूसरे वर्गों की नारियां भी अन्य माध्यमों से अपना कार्य-व्यापार चलाती हैं। ये नारियां हर लिहाज से अकिंचन होती हैं। इन नारियों के प्रति, पिता या और कोई सम्बन्धी अपनी आर्थिक-हीनता, दरिद्रता, क्रोध या और किसी कारण, उनको घर से निकाल देते हैं। इस प्रकार घर से निकलकर इन्हें स्वयं जीवन का आधार ढूंढ़ना पड़ता है। 'शुक बोला' में 'कल्पना', 'दादा' के हाथ में आकर पुनः जीवन का सहारा पाने में सफल होती है।[3] उधर कई नारियां निराधार रहकर आजीविका कमाती हैं। अपने आपको नाना प्रकार के प्रसाधनों से सजाकर वे पुरुषों को अपनी ओर खींचती हैं। यह हुई अकिंचन नारियों की बात, उच्च वर्ग की नारियां भी अपनी वासना की पूर्ति-हेतु इस व्यापार को प्रधानता देती हैं। वे कुछ समय के लिए खरीदे गए पुरुष को अपनी इच्छानुसार तोड़ती-मरोड़ती हैं। यदि वह कभी इस अवांछित कार्य के लिए सम्मति नहीं देता, तो उसे तुरन्त ही वहां से प्रस्थान करने का आदेश दिया जाता है।

नगरों के लोग सभ्यता के आवरण में अपनी मानसिक व्यथाएं छिपाए हुए हैं। यहां के नौकर कार्यालय जाते समय या बाज़ार में क्रय-विक्रय करते

---

1. 'प्यास' : शैलेष मटियानी (मेरी प्रिय कहानियां); पृ० 17।
2. मेरी तेतीस कहानियां : शैलेश मटियानी; पृ० 14।
3. "वहां से कल्पना के भूखे शरीर को नन्नू दादा बम्बई लाया। मुंडरा-पाडा की अपनी झोंपड़ी में रखकर खूब मटन-कबाब खिलाया, घी से तर आमलेट उसे खिलाए और कल्पना फिर निखर-संवरकर बम्बई की विलायती हिरोइनों को मात देने लगी।"
—शुक बोला : शैलेश मटियानी (दे० मेरी तेतीस कहानियां); पृ० 61।

समय, कोट-पैंट और आंखों पर चश्मे लगाए हुए अपनी मानसिक व्यथाओं एवं अभावों का इतिहास छिपाए रहते हैं। यहां का व्यक्ति अपनी ही समस्याओं में इतना उलझा रहता है कि उसको सड़क पर पड़ी इनसान की लाश को देखने का अवकाश तक नहीं है।

आजीविका कमाने के लिए शहर के लोगों को और भी तरह-तरह के कार्य करने पड़ते हैं। फिल्मी डायरेक्टरों व प्रोड्यूसरों को प्रसन्न रखने के लिए कलाकारों, कवियों तथा अन्य लोगों को अपना अस्तित्व तक मिटाना पड़ता है। अपने श्रम का मुआवज़ा केवल पांच सौ रुपए प्राप्त करने पर भी पांच हज़ार पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। कई आंचलिक कहानीकारों ने नगर के ये चित्र भी प्रतिबिम्बित किए हैं।

'रेणु' की 'टेबुल' नामक कहानी आंचलिक प्रवृत्ति की श्रेष्ठ कहानियों में एक है। कहानी की नायिका, जो कि एक फर्म की असिस्टेंट ब्रांच-मैनेजर है, का आग्रह है कि तरक्की पाने के बाद भी उसे उसकी पुरानी मेज़ ही मिले, वरना वह नौकरी से त्यागपत्र देने को तैयार है। इस अजीब सी हठ के पीछे अकेलेपन की पीड़ा और यौन-कुंठा की ओर सूक्ष्म और अत्यन्त कलात्मक संकेत किया है। उसे पुराना 'टेबुल' जब मिलता है तो 'टेबुल' पर अपने गालों को बारी-बारी रखती, स्पर्श-सुख से सिहरती-सिसकती और खिल-खिलाती है।

इसके अतिरिक्त 'मंटो' की 'शादी'[1] तथा कृष्णचन्दर की 'महालक्ष्मी का पुल'[2] में भी लखनऊ नगर की आंचलिकता दिखाई गई है। इन कहानियों में अमीर व ग़रीब लोगों की स्थितियों का तुलनात्मक चित्र उपस्थित किया गया हैं। शिवप्रसाद सिंह की 'हत्या और आत्महत्या के बीच'[3] तथा रमेश उपाध्याय की 'समतल[4]' नवीनतम नागरिक आंचलिक कहानियों के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। शिवप्रसाद सिंह की कहानी में नागरिक-आंचलिकता के साथ-साथ ग्रामीण-आंचलिकता भी आई है, जबकि रमेश उपाध्याय ने यह दिखाया है कि नगर में पारिवारिक रिश्ते खोखले होते जा रहे हैं। उनका अस्तित्व आर्थिक नींव पर आधारित है। यदि यह अर्थ-व्यवस्था कहीं टूट जाती है तो उस परिवार

---

1. सड़क के किनारे (प्रथम संस्करण; 1958 ई०); पृ० 112।
2. अन्नदाता; पृ० 98।
3. सारिका (जुलाई, 72); पृ० 48।
4. —वही—

का अचानक विघटन होता है। अब 'आदर्श', 'सहानुभूति', 'संवेदना' तथा ऐसे ही शब्द नगरों में 'अस्तित्वहीन' एवं 'निरर्थक' लगते हैं और इनका ढिंढ़ोरा पीटने वाला नागरिक अपने आप को संदर्भहीन समझता है।

इन कहानियों के अतिरिक्त जिन आंचलिक (ग्रामीण या नागरिक) कहानियों ने ख्याति प्राप्त की है उनमें शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों', 'आर पार की माला' और 'बिन्दा महाजन', मार्कण्डेय की 'हंसा जाइ अकेला', 'कल्यान मन', 'महुए का पेड़' तथा 'भूदान', शैलेश मटियानी की 'दो दुखों का एक सुख', रेणु की 'तीन बिन्दियां' तथा अन्य अनेक कहानियां मान्यता प्राप्त कर चुकी हैं।

(द) आंचलिक कहानियों का महत्व

इन कहानियों की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उनमें किसी अंचल विशेष का यथार्थवादी जीवन अपनी समग्रता एवं सूक्ष्म विस्तार के साथ उभर कर प्रकाश में आता है। कहानियों में पाठक के हृदय को छूने तथा उसकी अनुभूतियों पर छा जाने की समर्थता इन कहानियों की विशेषता है।

आंचलिक कहानी-साहित्य को जातीय-साहित्य के अन्तर्गत गिना जा सकता है। जातीय-साहित्य का अर्थ है किसी देश का वह साहित्य जो असली अर्थों में उस देश का साहित्य कहा जा सके, जिसमें उस देश की जनता के दुःखों, संघर्षों, इच्छाओं, आकांक्षाओं को अंकित करने का प्रयत्न किया गया हो। इस साहित्य में देश किसी देश की सांस्कृतिक विरासत को समझते हुए समाज और जीवन में संघर्षरत स्वस्थ ओर विकासशील तत्वों को प्रेरित किया गया हो। इतना ही नहीं, इसमें मनुष्य के बाहरी और भीतरी जीवन में पड़ने वाले नाना प्रकार के प्रभावों का सही विश्लेषण किया गया हो। जातीय साहित्य की इन विशेषताओं को देखकर निःसंकोच कहा जा सकता है कि आंचलिक कहानियों का थीम भारत की मिट्टी तथा यहां के जन-जीवन की उपज है।[1]

आंचलिक कहानीकार की रचनाएं कथा-शिल्प की समस्याओं का समाधान ग्राम-कथानकों के स्तर पर ढूंढ़ती है। इनका विश्वास है कि हिन्दी-कहानी में

---

1. "......ये भारतीय कहानियां हैं, भारतीय साहित्य में इनका महत्त्व है, इनमें धरती का अपनापन है, इनका रास्ता निश्चित और दिशा सही है,......।"
—आज की हिन्दी-कहानी : प्रगति और परिमिति : शिवप्रसाद सिंह (दे० नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति; पृ० 146)।

सजीवता ग्राम-कथानकों की पुन: प्रतिष्ठा के साथ ही आयी है ।[1] कई आलोचकों ने आधुनिक संवेदना को व्यक्त करने के लिए ग्राम-जीवन को कहीं अधिक उर्वर और उपयुक्त क्षेत्र माना है । उनका विश्वास है कि इन कहानियों में आज के मनुष्य के जीवन-संघर्ष का सारा दर्द वहां दिखाई देगा जहां एक साथ परंपरा और आधुनिकता दोनों आमने-सामने खड़ी हों । "उसने (आंचलिक कहानी) कुछ ऐसा दिया है जो पहले की हिन्दी-कहानी में नहीं था । उसने सच्चे, समर्थ, शक्तिशाली, निर्बल और दु:खी पर आत्मवान चरित्रों की एक ऐसी पंक्ति खड़ी की है जिनकी मानवता के सम्मुख गुहा-गह्वर के खंडित नागरिक व्यक्तित्व के 'कोउ मुखहीन विपुल मुख काऊ' वाले हज़ारों चरित्र फीके और प्रभावहीन दिखाई पड़ते हैं ।"[2]

आंचलिक कहानीकारों ने उन अछूते विषयों को पाठकों के सामने रखा जो कि दूसरे कहानी-लेखकों द्वारा उपेक्षित रहे । इस प्रकार इन कहानियों में कंजड़, नट, मुसहर, मिराशी, हिजड़े, रमन्तू नर्तक, भील, भिखारी तथा अन्य पिछड़ी एवं अपेक्षित जातियों के जीवन को समझने तथा नज़दीक से देखने का मौका दिया ।

(ङ) आंचलिक कहानीकारों पर कई आरोप

आंचलिक कहानियां कई आरोपों से मुक्त नहीं रखी गई हैं । ये कहानियां आधुनिकता से अछूती, रोमांटिक-यथार्थ की कहानियां बतलायी जाती हैं ।[3]

---

1. "गांव के कथानकों के साथ एक नई ताज़गी, सामाजिक विकास की नई सच्चाई तथा उसी के अनुरूप भाषा तथा शिल्प को ऐसी प्रबल शक्तियां आयीं, जिन्होंने कथा की सारी पुरानी, वसियायी, किताबी अर्जित भाव-सम्पदा को आच्छादित कर लिया । जिस अन्तर्गथित प्रतीक-योजना और भाषा की सांकेतिकता की बात अब उठाई गई है, वह अधिक असलता एवं स्वाभाविकता के साथ किसी पहाड़ी झरने की तरह इन्हीं कथानकों के साथ सबसे पहले आयी ।"
   —भूदान (भूमिका) : मार्कण्डेय (दे० हिन्दी-कहानी की रचना-प्रक्रिया; डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव; पृ० 254) ।
2. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति – सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी; पृ० 145 ।
3. "आंचलिक कहानियों में एक ओर यथार्थ के सतही रूप का आग्रह था और दूसरी ओर रूमानी भावुकता की लिजलिजी तरलता । इसमें इन

इस ऊपरी वाचिक्य और बाहरी आकर्षक वर्णनों में मानवीय संवेदना के तत्त्व प्रायः खो जाते हैं। इस तरह की स्केवी और जीवनशून्य कहानियां ग्रामकथा की सबसे बड़ी कमज़ोरी हैं।

आंचलिकता के अतिरेक से आंचलिक कहानी में कई भटकाव पैदा हो सकते हैं। जब किसी अंचल के सभी पात्रों द्वारा स्थानीय भाषा का प्रयोग करवाया जाता है, तो एक समस्या उत्पन्न हो जाती है[1], लगभग वैसी ही समस्या जैसी कि प्रेमचन्द के मुसलमान पात्रों की भाषा के सम्बन्ध में पहले उठाई गई थी।

संचार-साधनों के माध्यम से शहर तथा गांव का अन्तर कम होता जाता है। परिणामस्वरूप गांवों व शहरी जीवन में कई तरह से एक जैसी समता दिखाई देने लगी है। इस सिलसिले में कई आंचलिक कहानी-लेखकों ने ग्रामीण-वातावरण उपस्थित करने में रूढ़िवादिता से काम लिया है। उदाहरणार्थ अन्धविश्वासों तथा ऐसी ही बातों की शरण में आकर वह ऐसे ग्रामीण चरित्रों को प्रकट करता है जो आज के ग्रामीण जीवन में नहीं दिखाई पड़ते। यह दोष शिवप्रसाद सिंह तथा मार्कण्डेय की कई कहानियों में दिखाई देता हैं। अन्त में, आंचलिक कहानी की एक और त्रुटि उन कहानियों में दिखाई पड़ती है जिनमें केवल राजनैतिक चश्मे से जीवन को देखा गया है।" इन कहानियों में केवल राजनैतिक नारे उभरकर सामने आते हैं और इस तरह कहानी का साहित्यिक महत्व क्षीण हो जाता है। हर्षनाथ की सभी कहानियों तथा मार्कण्डेय की कई कहानियों में यह दोष दिखाई पड़ता है।

दोनों प्रवृत्तियों का मिश्रित रूप अपने निर्जीव अंत (डेड एंड) तक पहुंच गया था।"

—समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि; डॉ० धनंजय; पृ० 128।

1. "आंचलिकता कहानी के पाठकों के लिए समस्या तब बनती है जब आंचलिक कहानीकार आंचलिकता के अतिरिक्त आग्रह में पड़कर ऐसे शब्दों और मुहावरों का अतिशय व्यवहार करने लगते हैं जो विशेष-अंचल में ही बोले-समझे जाते हैं।"

   —हिन्दी-कहानी की रचना-प्रक्रिया; डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव; पृ० 276।

2. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति : डॉ० देवीशंकर अवस्थी; पृ० 145।

(य) निष्कर्ष

'आंचलिक-कहानी' को 'ग्रामकथा' की अपेक्षा 'आंचलिक कहानी' कहना कहीं समीचीन दिखाई देता है। ग्रामकथा, जैसा कि इसके शब्दार्थ से ही स्पष्ट होता है, का 'कैनवास' ग्रामों तक ही सीमित होगा जबकि आंचलिक कहानी का क्षेत्र ग्रामों के साथ-साथ नगरों तथा कस्बों तक होता है। इस प्रकार ग्रामकथा का अर्थ सीमित हो जाता है और आंचलिक कहानी का महत्व बढ़ जाता है।

'आंचलिक कहानी' 'नयी कहानी' की समवर्ती है। 'नयी कहानी' की पहुंच जहां न जा सकी, वहां 'आंचलिक कहानी' के रचनाकारों ने उन अछूते विषयों को पकड़ा जो प्राय: उपेक्षित या महत्वहीन समझे गए थे। ग्रामों में होने वाले राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक परिवर्तनों को ग्रामीण-आंचलिक कहानियां छूती आई हैं जबकि नागरिक-आंचलिक कहानियों में उन अपरिचित या उपेक्षित विषयों को छुआ गया है जहां कि दूसरे कहानीकारों की दृष्टि नहीं गई।

आंचलिक कहानीकारों पर जो आरोप लगाए गए हैं उनमें से एक मुख्य आरोप भाषा से सम्बन्धित है। यह ठीक है कि जब आंचलिक कहानीकार का कोई पात्र जब स्थानीय भाषा में बात करता है तब एक सामान्य पाठक के लिए समस्या उत्पन्न होती है, वह उस बोली को नहीं समझ सकता। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि वह बोली लेखक की नहीं, 'चरित्र' की होती है। परिणामस्वरूप लेखक इस प्रकार की स्थानीय भाषा का प्रयोग करने में विवश होता है। प्रत्येक भाषा या बोली का अपना स्थानीय रंग होता है और यह रंग (लोकल कलर) अपनी ही भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु स्थानीय-भाषा का प्रयोग उसी सीमा तक ही होना चाहिए, जिस सीमा तक इसकी आवश्यकता हो। यदि टिप्पणी द्वारा किसी अंचलविशेष को समझाया जाए तो और भी ठीक होगा। इस सिलसिले में डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव का यह कथन ठीक लगता है, "......कहानीकार यदि हिन्दी के बड़े पाठक-वर्ग के लिए कहानियां लिखता है तो उसे भाषा के स्थानीय रंग का उपयोग करते हुए भी अंचलों में सीमित भाषा के अतिरिक्त मोह से बचना चाहिए या अधिक-से-अधिक ऐसे व्यंजक शब्दों का व्यवहार करना चाहिए जो स्वत: सम्प्रेषित होने की सामर्थ्य रखते हों।"[1]

---

1. हिन्दी-कहानी की रचना-प्रक्रिया; डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव; पृ० 276।

सन् '60 से पूर्व के आँचलिक कहानीकारों पर जो 'सतही यथार्थता' तथा 'रोमांटिकता' के आरोप लगाए गए थे, वे धीरे-धीरे कम होते गए। अब आंचलिक कहानी में 'यथार्थ का शिल्प' तथा 'शिल्प का यथार्थ' — इसका पूर्ण सामंजस्य हो गया है। आंचलिक कहानी-कला प्रौढ़ होती जा रही है और अब शायद ही कोई कहानी मिलेगी जो यथार्थ के तथाकथित जोश से अक्रान्त होगी।

तृतीय अध्याय

साठोत्तरी कहानी

(क) 1. अ-कहानी

सन् साठ तक आते-आते नई कहानी का एक पूरा दशक समाप्त हुआ। यहां पहुंचकर कहानी से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण आयाम स्पष्ट हुए जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में हुआ है। अब एक बार पुनः कहानी को लेकर नए विवाद तथा सुनियोजित कथा-आन्दोलन स्थापित हुए। विपरीतधर्मी होने के कारण इन्होंने कहानी के क्षेत्र में काफी उत्तेजना उत्पन्न की। ये विपरीत-धर्मी लेखक-वर्ग थे—अकहानी वर्ग और सचेतन कहानी लेखक-वर्ग। यहां हम अकहानीकारों की पृष्ठभूमि तथा मान्यताओं पर संक्षेप में विवेचन करेंगे।

साठ से पहले का समय अर्थात् 'नई कहानी' का युग संक्रमण काल का युग था। उसमें नए और पुराने का मिश्रण था। इस नए युग में समस्त मानव जाति के सामने अपने अस्तित्व का संकट था तथा राष्ट्रीय स्तर पर उनका स्वप्न भंग भी हुआ था। नई कहानी-लेखक स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले ही प्रौढ़ हो चुके थे और नई चेतना से ओत-प्रोत होते हुए भी वे परम्परागत संस्कारों का मोह त्याग नहीं पाए थे। इस प्रकार उन्होंने मूल्यों के विघटन के साथ-साथ नए-पुराने मूल्यों का संघर्ष देखा और उसे अनुभव भी किया। लेकिन सन् साठ के बाद एक ऐसी पीढ़ी सामने आई जिसने स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद होश सम्भाला। यह पीढ़ी संक्रमणकालीन परिस्थितियों से मुक्त थी तथा इसका व्यक्तित्व नवीन युग के अनुकूल बताया जाता है। उन्हें अपने चारों ओर के विषम माहौल में संघर्ष करना पड़ा तथा संघर्ष की यह प्रक्रिया जारी है। भाई-भतीजावाद, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, नौकरशाही, लालफीताशाही के घृणित वातावरण में उसने अपने आपको अकेला तथा दिग्भ्रमित महसूस किया। साठोत्तरी कहानीकार को इन विषम परिस्थितियों में कलम चलानी पड़ी। उसमें पुरानी पीढ़ी के प्रति विद्रोह एवं आक्रोश उत्पन्न हुआ क्योंकि उसके अनुसार वह पुराने मूल्यों से जड़वी हुई थी।

साठोत्तरी कहानीकारों का कथन है कि 'नई कहानी' ने जीवन की सच्चाई को शिद्दत के साथ अनुभव करके उसका यथार्थ चित्रण नहीं किया है

क्योंकि वे संक्रमण के मोह से मुक्त नहीं हो सके हैं। अतः उनका नयापन साठोत्तरी अ-कहानीकार को रूढ़ एवं निर्जीव प्रतीत होने लगा। उसका दावा है कि 'नई कहानी' के पात्र जीवन की विषमताओं एवं विकृतियों को मौन होकर स्वीकारते हैं जबकि उसने टूटे हुए, दिशाहीन और नपुंसक पात्रों का चयन नहीं किया है। 'अ-कहानी' के पात्र टूटकर तथा संत्रस्त होकर भी जीवन से जूझ रहे हैं। साठोत्तरी कहानीकार ने खंडित मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों एवं मर्यादाओं को स्थापित करने का दावा किया है।

2. अकहानी की मान्यताएं

साठोत्तरी काल में 'अकहानी' ने अपने अस्तित्व को प्रतिष्ठित एवं प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। "अ-कहानी वस्तुतः निषेध तथा अस्वीकार की रचना है। निमर्म अस्वीकार—प्रचलित रचनागत मूल्यों, कथा-धारणाओं और अभिव्यक्ति के पुराने, जड़ और शिथिल आयामों का। 'अ-कहानी' का 'अ' अस्वीकृतिबोधक है।"[1] स्पष्ट है कि साठोत्तरी कहानीकारों को नई कहानी रूढ़िग्रस्त प्रतीत होने लगी, उसमें एक ठहराव का अनुभव किया गया।[2] परिणामस्वरूप इस 'नई पीढ़ी' के कुछ कहानीकारों ने 'नई कहानी' के उस रूप को अस्वीकार किया जो यादव—कमलेश्वर—राकेश जैसे कहानीकारों ने स्थापित किया था। यह प्रतिक्रिया इतनी तीव्र थी कि उन्होंने अपनी कृतियों के लिए 'कहानी' नाम से अभिहित करना अनुपयुक्त समझा और 'अ-कहानी' का अभियान चलाया।

अकथाकारों ने नई कहानी के दृष्टि-बोध से स्वयं को मुक्त करने की कोशिश की है। उनका दावा है कि तथाकथित नई कहानी के रचनाकारों की जीवन-दृष्टि जाली थी और उनकी रचनाओं का शिल्प छिनाल शिल्प था। उन्होंने शिल्पगत पच्चीकारी का विरोध किया है। अकहानी में बिम्ब, प्रतीक

---

1. कहानी : प्रसन्नकुमार ओझा; दे० स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : संपादक डॉ० महेन्द्र भटनागर; पृ० 39।
2. "नई कहानी अब थकी-पुरानी हो गई है और मैं जानबूझकर उसकी चर्चा नहीं करना चाह रहा। उसके लेखक उसमें आए संसार, उस संसार के प्रति रुख, उसकी भाषा और विकल्प, ये सभी अब खासे रूढ़ और समकालीन संदर्भ में अयथार्थ भी लगने लगे हैं।"
—सन् साठ के बाद की हिन्दी कहानी : देवीशंकर अवस्थी; दे० समकालीन कहानी : सम्पादक—डॉ० धनंजय; पृ० 85।

और सांकेतिकता सिद्धान्त रूप से अस्वीकृत हैं। दूसरे शब्दों में यह 'शिल्पहीन शिल्प' की कहानी है जिसके रचनाकार ने इसको 'किस्सागोई' व 'कहानीपन' से बचाए रखा है।[1] इस प्रयास में उनकी रचनाएं अकथात्मकता की ओर अग्रसर हुई हैं।

'अकहानी' के नामकरण की सार्थकता आदि पर कुछ लेखकों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। राजेन्द्र यादव के शब्दों में, "कुछ वर्षों से कहानी-रचना (अकहानी) का नया रूप उभर रहा है।"[2] गंगाप्रसाद विमल के अनुसार "1960 के बाद कथा-रचना की ऐसी एक रचनात्मक चेतना सामने आई है जो पूर्ववर्ती रचना-पीढ़ी से कई अर्थों में भिन्न है।"[3]

'अ-कहानी' पैरिस में जन्मी 'एंटी स्टोरी' (Anti Story) का भारतीय संस्करण है। डॉ० विनय जैसे आलोचक की धारणा यही है कि यह आंदोलन विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप आरम्भ हुआ। उनके अनुसार "अकहानीकारों की दृष्टि में कहानी में कहानी की सम्भावना अब नहीं रही। प्लॉट, उद्देश्य और युग-बोध के विभिन्न स्वरों का बोध एक पंक्ति में बैठकर नहीं हो सकता इसलिए अकहानी का कोई प्लॉट नहीं, उद्देश्य नहीं। यह केवल जीवन की ओर 'एब्सर्डिटी' तेज़ी से भागती हुई पारिवारिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों की विघटनात्मक प्रवृत्तियों की प्रतिछाया है।"[4] अकहानी का 'अ' एक जीवन-मूल्य है जिममें जीवन की आभासहीनता, अभिव्यक्ति की निरर्थकता, भाषा एवं भावों की अपूर्णता तथा व्यक्ति की विसंगति को प्रश्रय मिला है। डॉ० विमल ने इसे नई कथाधारा स्वीकार किया है।[5] अकहानी में

---

1. "अकहानी को सजे-सजाये कृत्रिम ढांचों से चिढ़ है। वह जीवन में शिल्पहीनता पाती है, आकृतिहीनता पाती है और उसे ईमानदारी से उसी आकृतिहीन शिल्पहीन रूप में आपके सामने रख देती है। अकहानी का शिल्प शिल्पहीन शिल्प है। उसे कहानी के नाम पर वे रूढ़ियां स्वीकार्य नहीं हैं जो कहानी को कहानी कम और किस्सा ज़्यादा बनाती हैं।"
—नई कहानियां (मार्च, 1966) : पाठक-लेखक गोष्ठी; ममता कालिया; पृ० 118।
2. आज की नई कहानी : परिभाषा के नए सूत्र—नई कहानी; मई '62।
3. समकालीन कहानी का रचना संसार : गंगाप्रसाद विमल; पृ० 6।
4. उपरिवत्; पृ० 65।
5. उपरिवत्।

अस्तित्ववादियों का विश्वबोध, एब्सर्ड-बोध, कामू का दर्शन तथा ऐसे ही दूसरे संस्कार ढूंढे जा सकते हैं। 'अ-कहानी' के पक्षधर कहते हैं कि एब्सर्ड अथवा व्यर्थता-बोध एक सामंजस्यहीन, अनर्गल तथा रूढ़ अर्थ से मुक्त विचारधारा है, अतः इसे पूर्ण जीवन की अस्वीकृति का आन्दोलन भी कहा जा सकता है। डॉ० विमल जैसे आलोचक एवं कथाकार ने अ-कहानी को आंदोलन तथा रूप-विधान से भिन्न माना है।[1]

स्पष्ट है कि एक अकथाकार किसी प्रकार के स्थूल सामाजिक दायित्व की प्रतिबद्धता अस्वीकारता है। यदि वह किसी के प्रति प्रतिबद्ध है तो वह है उसका अपना अनुभव। इनकी कहानियां संक्षिप्त किन्तु अर्थपूर्ण होती हैं। अ-कहानी में जीवन, परिवेश, व्यक्ति और संवेदना स्वाभाविक तथा अकृत्रिम रूप में सम्प्रेषित करने का प्रयास किया गया है। अकहानीकार के पात्र विशिष्ट व्यक्ति के स्थान पर सामान्य तथा विशेषणविहीन होते हैं। उनका यह आरोप है कि नए कहानीकारों की कहानियों में व्यक्ति को सहज और सामान्यवत ग्रहण नहीं किया गया। अतः उनकी कहानी सही आदमी को प्रस्तुत करने की तलाश में होती है। डॉ० गंगाप्रसाद विमल, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, अवधनारायण सिंह, महेन्द्र भल्ला, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह आदि घोषित अ-कहानीकार हैं। रवीन्द्र कालिया की 'बड़े शहर का आदमी' और 'नौ साल छोटी पत्नी', महेन्द्र भल्ला की 'एक पति के नोट्स', 'कुत्तेगिरी' और 'फुंसिया', गंगाप्रसाद विमल की 'प्रश्नवाचक चिह्न' और 'विध्वंस', ज्ञानरंजन की 'पिता' और 'शेष होते हुए', ममता कालिया की 'तरतीब' और 'छुटकारा', दूधनाथ सिंह की 'रीछ' और 'सपाट चेहरे वाला आदमी' उल्लेखनीय अ-कहानियां हैं। इन कहानियों में अनुभवों के अलग-अलग धरातलों पर अन्तर्बाह्य और परिवेश की सहज़ प्रस्तुति हुई है।

3. अकथाकारों पर कुछ आक्षेप

साठोत्तरी व साठ से पूर्व के कहानीकारों के जीवन-संदर्भ अलग-अलग रहे हैं। अतः रचना के कथ्य और कला-संचेतना के तत्त्वों के सम्बन्ध में इनकी धारणाएं भी कुछ हद तक अलग-अलग हों, एक स्वाभाविक बात है।

---

1. " 'अ-कहानी' कहानी की धारणागत प्रतीति से अलग एक अस्थापित कथाधारा है, जो कहानी के सभी वर्गीकरणों, मूल्यांकन और पूर्व-समीक्षाओं को अस्वीकारती है।"

—समकालीन कहानी का रचना संसार : डॉ० गंगाप्रसाद विमल; पृ० 61।

इस अलगाव का कारण प्रमुखतया दोनों दशकों के अलग मानसिक व्यक्तियों में ही खोजना चाहिए। दोनों दशकों के प्रारम्भिक वर्षों की मानसिकता इतनी भिन्न रही है कि दोनों दशकों के साहित्यिक मिज़ाज में अंतर आना एक स्वाभाविक बात थी। दोनों के आरम्भ में रोमानी जीवन-बोध से मुक्ति की छटपटाहट रही है, किन्तु प्रथम दशक में कुछ संस्कारगत लगाव ज़रूर रहा है। साठोत्तरी कहानीकारों के सामने द्विविधा की कोई समस्या नहीं थी, बल्कि इन साहित्यकारों के पास अतीत की एक लम्बी परम्परा, जीवन-मूल्यों के संस्कारों की जड़ें बहुत दूर तक लेखकों के मानस में समा गई थीं। परन्तु साठोत्तरी कहानीकारों ने एकदम अपने आपको इस परम्परा से अलग कर दिया। ये कहानीकार भूल गए कि 'नई कहानी' के रचनाकारों के सम्मुख एक ऐसा ज़बरदस्त आह्वान था कि वे अतीत की ठोस परम्परा से मुक्त नहीं हो सकते थे। वस्तुत: साहित्यकारों की इस पीढ़ी ने परम्परागत जीवन-मूल्यों के मध्य जीवन-संदर्भों को स्वीकार किया था। इसी पीढ़ी ने परम्परागत मूल्यों के विघटन का अनुभव भी किया था। अत: उन्हें अपनी ही परम्परा से अलगाव के लिए अपने में एक ऐसी चुनाव-शक्ति का निर्माण करना था जिसके आधार पर नए और पुराने के बीच युगानुकूल संदर्भों का चुनाव किया जा सके। साठोत्तरी कहानीकारों ने इन बातों को जानने-समझने से आंखें बन्द की हैं और एक नई परम्परा प्रस्थापित करने का दावा किया है।

साठोत्तरी कहानीकार को नई कहानी के रचनाकार की तरह 'मुक्ति' और 'स्थापना' के बीच गुज़रना नहीं पड़ा। नए कहानीकार को अपनी मानसिकता से तथा परम्परावादी स्थापित कहानीकारों और आलोचकों की विरोधी आलोचनाओं से लड़ना पड़ा। दूसरी ओर साठोत्तरी कहानीकार के लिए इस प्रकार की कोई समस्या नहीं थी। नवीन जीवन-दृष्टि और युग-बोध सम्प्रेषित करने के लिए उसका रास्ता पहले ही बन चुका था। नए कहानीकारों की नई चीज़ को समझने तथा ग्रहण करने में समय लगा, जबकि साठोत्तरी कहानीकारों के पास ऐसी कोई समस्या नहीं थी।

डॉ॰ विनय 'अकहानी' पर आक्षेप करते हुए लिखते हैं, "अकहानी के आन्दोलन में वैचारिक पृष्ठभूमि का अभाव है और कुछ कहानीकारों की प्रतिष्ठा पाने की लालसा प्रमुख है।"[1] वे यह भी स्वीकारते हैं कि यह आन्दोलन बहुत ही क्षणिक रहा फिर भी यह कहानी के भीतर उभरा

---

1. समकालीन कहानी, समांतर कहानी : डॉ॰ विनय; पृ॰ 11।

आन्दोलन था जिसे शाश्वत रचनाकार नहीं मिल पाए। डा० लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय के अनुसार ये कहानियां, जीवन-सत्य से कटकर व्यक्तिगत जीवन-सत्य व्यक्त करने लगीं। उनकी संवेदनशीलता स्थिर हो गई। उनकी कहानियां जीवन के जीते-जागते चित्र होने के स्थान पर व्यक्तिगत क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का लेखा जोखा बन गई।''[1] हृषीकेष ने अकहानी के अनुभव को नई कहानी से भिन्न नहीं माना है।[2] देवेन्द्र इस्सर को भी अकहानी का दर्शन दुर्बल दिखाई देता है।[3]

इतना ही नहीं अकथाकारों के अतिरिक्त शेष साठोत्तरी कहानीकारों का साहित्य भी सशक्त एवं समृद्ध है। इन कहानीकारों ने भी अकथाकारों की तरह युग-जीवन का त्रास, विक्षोभ, हताशा, आतंक, अपरिचय और अकेलेपन के प्रत्ययों का सार्थक अभिव्यंजन किया है।

4. निष्कर्ष

'अकहानी' चाहे नाम हो (वह एक अर्थ में नाम है ही) या आन्दोलन, यह बात निर्विवाद रूप से ग्रहण की जानी चाहिए कि 'अकहानी' वस्तु तथा 'ट्रीटमेंट' के लिहाज़ से 'नई कहानी' से कुछ हद तक बदली है। परन्तु हम उसको पूर्ववर्ती कहानी (नई कहानी) से एकदम अलग कर नई कहानी का तिरस्कार करते हैं। वास्तव में साठोत्तरी कहानीकार ने अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी की रचनात्मक उपलब्धियों का तिरस्कार किया है, ठीक 'नई कहानी' के

---

1. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; पृ० 151।
2. ''विस्मय की बात यह है कि जिन जड़ अनुभवों को लेकर परिभाषा सम्मत कहानी लिखने का चलन था उन्हीं का स्त्रैपा प्रतिरूप 'अकहानी' में पड़ रहा है। जड़ अनुभवों को महत्व देने की कोशिश एक विशेष प्रकार के 'मैनरिज़्म' से ग्रस्त होकर उभरी है और कुछ अनुभववादी लेखक ऐन झोंक में पड़कर ध्यान खींचने की खातिर यह सत्य हज़म करने लगे हैं कि ये अनुभव तो अनुभूति प्रसंग भी नहीं होने लायक हैं।''
—हिन्दी कहानी बदलते प्रतिमान : डॉ० रघुवर दयाल वार्ष्णेय; पृ० 156।
3. अकहानीकार के ''जीवन-दर्शन में आत्महत्या और मृत्युबोध तो है लेकिन विद्रोही की शहादत नहीं।''
—हिन्दी कहानी दो दशक की यात्रा : डॉ० रामयश मिश्र आदि; पृ० 221।

रचनाकारों की तरह। इस 'तिरस्कार' और 'नकार' के पीछे एक मनोवैज्ञानिक आधार भी होता है। प्रत्येक पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी को नकार कर सम्भवत: साहित्य के इतिहास में स्थापित होने की चेष्टा करती है। यह संघर्ष आगे भी चलता रहेगा। परन्तु अपनी मौलिकता तथा वैशिष्ट्य स्थापित करने की होड़ में एक कथावर्ग को आंखें मूंदकर अपनी पूर्ववर्ती परम्परा को नकारना नहीं चाहिए। यह एक महान् साहित्यिक ईमानदारी कहलाएगी।

(ख) 1. सचेतन कहानी

साठोत्तरी हिन्दी कहानी की परम्परा में 'सचेतन कहानी' भी उल्लेखनीय है। इसका जन्म लगभग उन्हीं परिस्थितियों में हुआ जिनमें 'अकहानी' का हुआ। "नई कहानी ने मूल्यों की जिस अस्थिरता के बीच अपनी जीवन-दृष्टि प्राप्त करनी चाही थी उनकी विश्रृंखलता, अव्यवस्था और भी बढ़ गई और मात्र व्यक्ति की प्रमुखता के साथ स्थापित मानदंड भी डगमगाने लगे और जन्म लिया एक नई संचेतना ने जिसका आभास सन् 1959-60 में हुआ और बड़ी तेज़ी से उस आभास ने आन्दोलन का रूप ले लिया।"[1]

सचेतनवादी कहानीकारों ने भी लगभग पूर्ववर्ती कहानीकारों पर वही आरोप लगाए हैं जो आरोप अकथाकारों ने उन पर लगाए। उनके अनुसार सन् 1960 से पूर्व का जो यथार्थ कहानियों में दिखाया गया था वह रूमानी गुहाओं के अंधकार में दिग्भ्रमित किया जा चुका था। नई कहानी की विश्रृंखला बिना किसी आधार के वैयक्तिकता से जुड़ने लगी थी। सचेतन कहानी का जन्म इन्हीं के प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ जिसने बिखरे हुए व्यक्ति को फिर से जोड़ने तथा पुनर्रचना का दायित्व अपने ऊपर लिया।[2]

---

1. समकालीन कहानी, समांतर कहानी : डॉ० विनय; पृ० 10।
2. "टूटती हुई आस्थाओं के अंतराल में सचेतन कथा सक्रिय भाव-बोध को उपस्थित करने का प्रयास करती है। जीवन की शाश्वत स्वीकृति से अनुप्रेरित-उत्साहित होकर वह अकेलेपन, ऊब, घुटन और घृणा तथा अजनबीपन की किसी भी स्थिति से संयुक्त नहीं हो पाती है। सचेतन कहानी के सापेक्ष्य में यह सिद्ध किया गया है कि 'नई कहानी' का जो भाव-शिल्प-वैचित्र्य अव्यवहारोचित पद्धतियों द्वारा प्रयुक्त हुआ है वह किसी भी मनोदशा में संवेग का भावोद्रेक करने में असफल है।"
—कहानी : प्रसन्नकुमार ओझा; दे० स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : सम्पादक डॉ० महेन्द्र भटनागर; पृ० 41।

2. सचेतन कहानी की मान्यतायें

'सचेतन कहानी' आन्दोलन का सही आरम्भ 'आधार' के 'सचेतन कहानी विशेषांक' से माना जाता है। इस अंक का संपादन डॉ० महीप सिंह ने किया था। बीस कहानियों पर आधारित इस अंक में सचेतन कहानी की दृष्टि तथा आशय को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस तरह सचेतनता एक दृष्टि है जिसमें जीवन जिया जाता है और जाना भी जाता है। सचेतन दृष्टि जीवन से नहीं, जीवन की ओर भाग जाती है। इसका कारण यह है कि अपने संक्रान्ति काल में चाहे हमें जीवन अच्छा लगे या बुरा, परन्तु जीवन से हमारा मोह छूटता नहीं। इसलिए मनुष्य की प्रकृति जीवन से भागने की नहीं अपितु जीवन की ओर भागना ही उसकी नियति है। सचेतन कहानी में निराशा, अनास्था तथा दूसरे ऐसे ही प्रत्ययों का चित्रण किया जाता है जिससे मृत्युभय, व्यर्थता एवं आत्मपराभूत चेतना का स्वयं परिहार हो जाता है। सचेतन आन्दोलन मानवता के टूटते-उलझते मूल्यों, जीवन की ढहती-पनपती मान्यताओं और व्यक्ति-समाज की अपराजेय आस्थाओं को वाणी देता आ रहा है।

इस प्रकार सचेतन कहानी स्वीकृति की कहानी है। सचेतन जीवन-दृष्टि में जीवन का स्वीकार है, पलायन नहीं। सचेतन दृष्टि के पक्षधर डॉ० महीप सिंह के अनुसार, "आज की स्थिति टूटी हुई आस्थाओं से पीड़ित होने, चौंकने या निर्लिप्त होकर उसे देखने की नहीं, बल्कि उसे साहसपूर्ण स्वीकारने और उनमें सहज होने की है।"[1] सचेतन दृष्टि में आत्म-सजगता के साथ-साथ संघर्ष की इच्छा भी है। यहां मूल विघटन की संक्रमित चेतना में मनुष्य निष्क्रिय बना नहीं रह सकता है। इसी बात पर 'नई कहानी' के रचनाकारों से विरोध करते हुए सचेतन कहानीकार कहते हैं कि अनास्था, अकेलापन, निराशा तथा पुरानी मर्यादाओं का विघटन प्रामाणिकता की सीमा में नहीं आता।

सचेतन कहानीकारों ने शिल्प के नए प्रयोगों तथा आयामों को स्वीकारा तो है किन्तु नयी कहानी के शिल्प पर 'ढली-ढलाई शब्दावली' और एकरस-बद्धता के आक्षेप लगाए हैं। "अपनी बात को अभिव्यक्ति का रूप देने के लिए सचेतन लेखकों के सामने विषय या शिल्प की कोई सीमा या बाध्यता नहीं है।"[2] ये कथाकार अमेरिका की 'एक्टिविस्ट' (Activist) कथा-पीढ़ी से

---

1. हिन्दी कहानी का विकास : डॉ० देवेश ठाकुर; पृ० 117।
2. संचेतना, अंक 4, दिसम्बर, 1967।

प्रभावित हैं तथा साउल बोलो, जेम्स बाल्डविन, वाकेर पर्सी, मुनरो एंगल जैसे रचनाकारों से प्रेरणाएं ग्रहण की हैं। फलस्वरूप इन्होंने 'नयी कविता' की कई सच्चाइयों को नकार कर घोर आशावाद की घोषणाएं की हैं। सचेतन कहानी को आंदोलन का रूप देने वाले डॉ० महीप सिंह की 'घिराव', 'स्वराघात', 'पानी और पुल' और 'दुःख' जैसी कहानियां विशुद्ध सचेतन दृष्टि का परिचय देती हैं। इसके अतिरिक्त मनहर चौहान की 'बीस सुबहों के बाद' और 'न उड़ने वाली लाशें', श्याम परमार की 'जीप की दोगली नज़र', धर्मेन्द्र गुप्त की 'पुराने और नए जूतों के साथी', योगेश्वर की 'एन्क्लोज़र', कुलभूषण की 'पहली सीटी', हिमांशु जोशी की 'आदमी : ज़माने का', जगदीश चतुर्वेदी की 'अधखिले गुलाब', आनन्द प्रकाश जैन की 'आटे का सिपाही', बलवंत सिंह की 'देवता का जन्म', हृदयेश की 'आइसक्रीम' आदि रचनाएं इसी आंदोलन को पुष्ट करने में सक्षम हैं।

3. सचेतन कहानीकारों पर कुछ आक्षेप

सचेतन कहानीकारों का सिद्धान्त एकतरफा है। जीवन में जिन घोर आशाओं की घोषणाएं सचेतन कहानीकार करते हैं, ये स्थितियां जीवन की सही स्थितियां कही जा सकती हैं परन्तु युगीन संत्रास, दरार, तनाव तथा दूसरे प्रत्ययों से मुंह मोड़कर इनका दर्शन अपूर्ण रह जाता है। ये रचनाकार इन स्थितियों को प्रामाणिकता की सीमा के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। "यह दृष्टिकोण तो पश्चिम के बहीखाते से उधार में लिया गया है।......वस्तुत: सचेतनवादियों का कोई स्वाभाविक जीवन-बोध निर्धारित नहीं किया जा सकता चूंकि इसमें 'नए' का नकार अधिक है, अपना कुछ कम है। जो है वह भी पुराने का घिसा-पिसाया पिष्ट-पेषण ही अधिक है।"[1]

सचेतनवादियों ने नए कहानीकारों पर जो आरोप लगाए हैं, स्वयं वे अपनी कथा के माध्यम से शिल्प की कोई नई भंगिमा प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। वस्तुत: थे संज्ञाएं भ्रामक हैं। जीवन की आस्था को उन पश्चिमी लेखकों ने भी ग्रहण किया है जिनकी सारी जीवन-विधियां दो महायुद्धों की त्रासदी में बुरी तरह पिस चुकी हैं। उन्होंने 'जीवन', 'गतिशीलता', 'आधुनिकता' जैसे शब्दों का इस तरह प्रयोग किया है मानो इन धारणाओं से कोई परिचित ही नहीं था।

---

1. कहानी : प्रसन्नकुमार ओझा; दे० स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : संपादक डॉ० महेन्द्र भटनागर; पृ० 41।

4. निष्कर्ष

सचेतनवादियों की इस घोषणा का यह अर्थ लिया जा सकता है कि आधुनिक जीवन की निरर्थकता—सार्थकता की सही अभिव्यक्ति किसी भी पूर्व-निर्धारित शिल्प-संयोजन या जीवन-दर्शन में सम्भव नहीं है। साठोत्तरी कहानीकार प्रस्थापित जीवन-मूल्यों एवं आदर्शों को नकारता आया है। इसी प्रकार उसने परम्परागत कहानी-शिल्प को भी स्वीकृति नहीं दी है। वह अनुभव के स्तर पर दृष्टि की सचेतनता में लगा हुआ है। यह अच्छी बात है कि 'नई कहानी' ने 1960 के बाद नए आयामों का परिचय दिया।

जो साहित्य किसी सुनियोजित फार्मूले के अधीन होकर लिखा जाता है, उसका सहज विकास नहीं होता है। वह अपनी जड़ें मज़बूत करने में असमर्थ रहता है तथा वह साहित्य उच्चकोटि की पदवी प्राप्त नहीं कर सकता। सचेतन कहानीकारों के बारे में भी यही कहा जा सकता है। उनके ही समकालीन कहानी-लेखकों ने, जो सचेतन कहानी आंदोलन या अकहानी आंदोलन से मुक्त थे, अपेक्षातर श्रेष्ठ कहानियां लिखी हैं। ये रचनाकार आज भी स्वतंत्र लेखन कर रहे हैं तथा इसकी महत्ता बनी हुई है।

(ग) 1. समांतर कहानी

'साहित्य समाज का दर्पण है।' प्रेमचन्द का यह सूत्र-वाक्य जितना सही स्वयं प्रेमचन्द के लिए है उतना ही यह किसी अन्य संवेदनशील साहित्यकार के लिए सटीक माना जा सकता है। एक लेखक का मन अपने युग की विभिन्न परिस्थितियों से इतना आंदोलित हो जाता है कि उनसे वह मुंह मोड़ नहीं सकता है। वह निजी तथा दूसरों के अनुभवों, समस्याओं, प्रश्नों-अप्रश्नों को समझकर तथा आत्मसात् करके अपनी सृजनात्मक शक्ति से उनका ईमानदारी से प्रकटीकरण करता है। यह कथन हिन्दी के कई व्यतीत कहानीकारों के बारे में जितना सही है उतना ही सटीक स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों के लिए है।

'हिन्दी कहानी' वस्तु, ट्रीटमेंट आदि दृष्टिकोणों से बदलती रही है, यह श्रेयस्कर है और वांछनीय भी। इस बदलाव के कारण भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी के बहुत से कहानीकारों ने प्रेमचन्द के इस कथन को नहीं नकारा है कि 'कहानी' समाज-सापेक्ष है। कमलेश्वर का यह कथन कि "नई कहानी विकास की प्रक्रिया से गुज़री है जिसके वस्तुबीज प्रेमचन्द, प्रसाद और यशपाल

में हैं।"[1]—इससे हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाती है। डॉ० नामवरसिंह[2] की तरह राजेन्द्र यादव भी मानते हैं कि "आज के कथाकार ने उन्हीं (पुराने कथाकारों की) टूटी-फूटी, विस्मृत और दूर पड़ी परम्परा को ही तो विकास देने की कोशिश की है।"[3]

किन्तु 'पुरानी कहानी को नकार कर 'नई कहानी' के 'नए' को स्थापित करने की जल्दबाज़ी में, कहानी साहित्य के इतिहास में स्थापित होकर अलग पहचान कराने की होड़ में सम्भवतः 'नई कहानी' का अभियान रूढ़ हो गया था। इधर 'नई कहानी आन्दोलन", 'अ-कहानी आन्दोलन', 'सचेतन कहानी आन्दोलन' इतनी द्रुतगति से स्थापित-अस्थापित कर दिए गए कि कई कहानीकारों में कहानी-सृजन की अपेक्षा कहानी-आंदोलन चलाने की चिन्ता ज़्यादा थी। परिणामस्वरूप इस जल्दबाज़ी में 'नया' शब्द तथाकथित गतिशील सिद्ध करने की कोशिश की गई तथा 'स्थापनाओं-अस्थापनाओं' ने बहुत जोर पकड़ा। निश्चितवाद या बैनर के नीचे लिखित कहानी साहित्य में एक प्रकार का बनावटीपन आ गया तथा 'हिन्दी कहानी' के विकास में एक प्रकार का ठहराव (Stagnation) सा अनुभव किया गया। इस बात का अहसास कालांतर में बहुत से कहानीकारों तथा कहानी-समीक्षकों को हुआ कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी जीवन तथा युग के व्यापक संदर्भों को नकार कर केवल व्यष्टि सत्य तक ही सीमित होकर रह गई है। वह महानगर की कहानी बन गई है तथा उसका सृजन सामान्य जनता को नकार कर किया गया है। इस अहसास के परिणाम ने समांतर कहानी जो जन्म दिया।

2. समांतर कहानी में प्रतिमान

'समांतर कहानी' वस्तुतः समांतर लेखन की एक दिशा है। "अपने समय के समांतर सोचना और लिखना ही समांतर लेखन है, साथ ही अपनी प्रतिबद्धता को जीवन में संलग्नता और समय के प्रश्नों को पीठिका में स्वीकार करना तथा प्रतिबद्धता से भी आगे बढ़कर सम्पूर्ण सम्बद्धता को स्वीकार करना समांतर लेखन की अनिवार्य स्थिति है।"[4] इब्राहीम शरीफ ने 'समांतर कहानी' को एक नारा न मानकर एक सोच, एक दृष्टि, एक जीवन पद्धति, ज़िन्दगी की

1. नई कहानी की भूमिका : कमलेश्वर; पृ० 40।
2. कहानी : नई कहानी—डॉ० रामवरसिंह; पृ० 215।
3. संवेदना के बिम्ब : डॉ० राजानन्द; पृ० 112।
4. कामतानाथ; दे० सारिका—दिसम्बर, 1974; पृ० 88।

एक सचाई माना है। उनके अनुसार समांतर कहानी में चित्रित लोग आपस में एक हैं चाहे वे किसी भी उम्र के, किसी भी वर्ग के, किसी भी पेशे और किसी प्रतिष्ठान के क्यों न हों। समांतर कहानी-लेखकों का समर्थन करते हुए वे लिखते हैं, "आठवें दशक के साहित्यकारों ने जब अपने पास चारों ओर देखा तो पाया कि आज़ाद भारत में घूसखोरों, कालेबाज़ारियों और इनको सहारा देने वाले सत्ता के कर्णधारों को जीवन में हर प्रकार की सुविधाएं मिल रही हैं और आम आदमी बद से बदतर ज़िन्दगी की तरफ ढकेले जा रहे हैं......नवकुबेरों की दुराशाएं तक पूरी हो रही हैं मगर आम आदमी की मूलभूत आवश्यकताएं भी पूरी नहीं हो पा रही हैं। शिक्षित लोगों की संख्या बढ़ रही है मगर उससे दसगुणा बेकारी बढ़ रही है......। इस सारी भयावहता को देखते हुए उससे मुंह मोड़ लेना असम्भव था इसलिए इन नए लेखकों ने फैसला किया कि वे इन सारी अनैतिकताओं से लड़ेंगे, तड़पते हुए असुरक्षित लोगों से मिलेंगे, इन्हीं के साथ उठेंगे-बैठेंगे और ऐसे फैसले लेने वाले लोगों द्वारा लिखी जाने वाली कहानी ही समांतर कहानी है।"[1]

उपरोक्त आलोचकों के अतिरिक्त अन्य आलोचकों ने भी समांतर कहानी की दशा एवं दिशा को समझाने के प्रयास किए हैं। सभी आलोचकों का प्रायः संयोजित निष्कर्ष यही है कि समांतर लेखक सामान्य जन का पक्षधर है और लेखक स्वयं भी सामान्य जन है। वह ज़िंदगी को समांतर देखता है, सम्पूर्ण सम्बद्धता में उसकी आस्था है। उसके लिए भोगे हुए यथार्थ की अपेक्षा अनुभव-सिद्ध यथार्थ अधिक महत्वपूर्ण है और उसका लेखन समय सापेक्ष है। उसके अनुसार जीवन और जगत् का 'वाम' चिरन्तन है और यही चिरन्तन उसके सम्पूर्ण लेखन का मूलाधार है।

'समांतर (1) 1972' के प्रकाशन के साथ नई कथा-संवेदना का प्रारम्भ माना जाना चाहिए। संकलन में उन्नीस कहानियों के अतिरिक्त समांतर कहानी की मान्यताओं का भी विवरण है। ये कहानियां आज के आम आदमी के तकलीफों की सही दस्तावेज हैं। आज का सामान्य आदमी भ्रष्ट राजनीति और दोगली अर्थ-व्यवस्था से प्रभावित होकर बुरी तरह से पिट रहा है। यातनाओं के जंगल से गुज़रता हुआ वह चारों ओर से पिसता जा रहा है किन्तु फिर भी अच्छी व्यवस्थाओं की कल्पना करता हुआ वह जीवन में संघर्षरत है। आशीष सिन्हा और रमेश उपाध्याय के पात्र दोगली अर्थ-व्यवस्था की विकृतियों के शिकार हैं और अस्तित्व की सुरक्षा के नाम पर समझौतों

1. सारिका—दिसम्बर, 1974; पृ० 88।

भरी जिन्दगी के लिए विवश हैं। इब्राहीम शरीफ की 'दिग्भ्रमित' नामक कहानी का एक प्रमुख पात्र युवक है जिसके लिए दिल्ली पहुंचना वक्त की सबसे बड़ी जरूरत है। वह एक राजनैतिक जुलूस का शिकार हो जाता है। ये जुलूस तथा राजनैतिक हथकंडे उसे खाना नहीं दे सकते, उसके खाने के रास्ते रोक सकते हैं।

रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, छलकपट हमारे जीवन के अब अभिन्न अंग बन गए हैं। यह भ्रष्टाचार जितना सामाजिक है, उतना ही प्रशासनिक एवं राजनैतिक भी है। दामोदर सदन की 'आग' नामक कहानी में जंगल का रेंजर ऐसी आग के षड़यन्त्र का शिकार है जो कभी भी और कहीं भी लग सकती है। कई कहानीकारों ने 'व्यवस्था' पर बहुत ही तीव्र प्रहार किए हैं। यह व्यवस्था चाहे प्रशासनिक हो या राजनैतिक, हर जगह व्यवस्था के नाम पर कुव्यवस्था है, हर जगह एक-सा ही संत्रास है।

समांतर कहानी का आरम्भ आम आदमी की प्रतिष्ठा से हुआ है। यह आम आदमी अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करने के लिए अभिशप्त है। एक तरफ वह भौतिक उपलब्धियों की बात करता है किन्तु दूसरी ओर उसकी समस्याओं तथा प्रश्नों का समाधान होता नहीं दिखाई देता, बल्कि इनकी शिद्दत बढ़ती ही जा रही है। उसके प्रश्न तथा जूझती हुई समस्याओं के विषय हैं— भूमिहीन किसान, खेतिहर मजदूर, फुटपाथ पर सोया आदमी, व्यवस्था के शिकंजे में जकड़ा बेरोजगार शिक्षित युवक आदि। समांतर कहानी उन सारी शक्तियों का विरोध करती है जिनके कारण आज के समाज में आम आदमी ऐसे दमघोंटू वातावरण में रहने को विवश है। दूसरी तरफ वह आम आदमी के संघर्ष को अभिव्यक्ति देती है, उन सारे स्थलों को बेरहमी से बेनकाब कर रही है जिनके कारण आम आदमी के संघर्ष की पकड़ दुर्बल पढ़ रही है। समांतर कहानीकार को उस बिन्दु की तलाश है जहाँ आम आदमी की दुर्बलता का ह्रास हो और विरोधी शक्तियों के ध्वंस के रास्ते खुलें। लेकिन समांतर कहानी के रचनाकार को इस बात का बखूबी अहसास है कि इनका ह्रास पूर्णरूपेण नहीं हुआ है क्योंकि ये विरोधी शक्तियाँ कई नए रूपों में आदमी को अपने शिकंजे में कसती जा रही हैं।

समांतर कहानी एक सुनिश्चित सामाजिक बदलाव के लिए जन-संघर्ष के प्रति समर्पित कहानी है।[1] इन कहानियों के पात्र वर्तमान विषमताओं, आर्थिक

1. "समांतर कहानी जन-संघर्ष के लिए प्रतिबद्ध ही नहीं, उससे सम्बद्ध और उसकी भागीदार है। समांतर कहानी, इसीलिए सीधे सामान्य जन

दबावों और सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ लड़ते-जूझते और संघर्षरत जिम्मेदार इन्सान हैं। इब्राहीम शरीफ़ की 'युगांतर', वल्लभ सिद्धार्थ की 'महापुरुषों की वापसी', अजित पुष्कल की 'मछली मरी हुई' आदि कहानिया साधारण इन्सानों की कहानियां हैं जो संघर्षरत दिखाई देते हैं। इसी प्रकार निरूपमा सेवती की 'कुछ होने की स्थिति', मृदुला गर्ग की 'हरी बिन्दी', मेहरून्निसा परवेज़ की 'आतंक भरा सुख', सुधा अरोड़ा की 'तानाशाही' समांतर कहानी के दृष्टिकोण को निरूपित करती हैं।

भाषा तथा शिल्प के संदर्भ में भी समांतर कहानी ने अपनी एक अलग पहचान स्थापित की है। भावुकता को अस्वीकृत करती हुई समांतर कहानी की भाषा पहले से और अधिक सहज तथा संप्रेषणीयतापूर्ण है। कहीं यह फैंटसी का रूप धारण करके आती है और कहीं वह मात्र रिपोर्ताज जैसी लगती है। चिन्तन के धरातल पर समांतर कहानीकारों ने द्वन्द्वात्मक मार्क्स-वादी दृष्टि को स्वीकार भी किया है। कह सकते हैं कि इसमें नव-प्रगतिवादी चेतना का स्वर विद्यमान है।

3. निष्कर्ष

हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि वही रचना अमर हो सकती है जो आम आदमी के दु:ख-दर्द को समझकर तथा आत्मसात् करके लिखी जाए। समांतर कहानी ने यह काम बहुत हद तक किया। इसने सही अर्थों में कहानी को उस परम्परा से मिलाया जिसकी नींव प्रेमचन्द ने डाली थी तथा जिसको कालांतर में बहुत से कहानीकारों ने पुष्ट किया। समय का आधार किसी रचनाकार को समांतर नहीं बना सकता, बल्कि कहानीकार की विषय के प्रति तटस्थ एवं ईमानदार दृष्टि उसको समांतर लेखन से जोड़ती है। इस दृष्टि से 'नयी कहानी' की बहुत सी रचनाओं को हम 'समांतर कहानी' से अभिहित कर सकते हैं। इसी कारण समांतर कहानी ने पीढ़ियों के विभाजन

या सर्वहारा के जीवन, उस पर पड़ रहे आर्थिक, राजनैतिक अथवा संस्कारगत दबावों, देश में व्याप्त पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा उसके शोषण और इस शोषण के खिलाफ उसके संघर्ष से जुड़ती है।"

—दे० कामतानाथ के 'समांतर कहानी' सम्बन्धी विचार—सारिका: नवम्बर 1974, पृ० 82।

को अस्वीकार किया है। कालांतर में 'समकालीन कहानी'[1] की जो चर्चा हुई, 'समांतर कहानी' में उसकी अधिकांश विशेषताएं मौजूद हैं।

(घ) मिनी कहानी

कहानी के जन्म के साथ ही यह विश्वास भी जन्मा है कि प्रत्येक कहानी का कुछ-न-कुछ अर्थ होता है। पुराने जमाने में ईसप, पंचतंत्र, जातक आदि कथाएं जो लिखी जाती थीं, उनसे नैतिक उपदेश ग्रहण करने के मूल में यही विश्वास था। इस विश्वास की जड़ें इतनी गहरी हैं कि आज भी यदि हम किसी को कहानी सुनाते हैं, तो उसका कुछ-न-कुछ अर्थ अवश्य ग्रहण किया जाता है, चाहे यह अर्थ प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष। कहना न होगा कि आज की कहानी का उद्देश्य कुछ-न-कुछ ज़रूर होता है। प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी तथा ऐसे ही दूसरे हिन्दी के व्यतीत कहानीकारों ने जिस प्रकार अपने आदर्शों एवं निष्ठा के अनुसार कहानियां लिखी हैं, उसी प्रकार आधुनिक कहानीकारों ने भी कहानी-सृजन किसी-न-किसी उद्देश्य को लेकर ही किया है।

नये भाव-बोध एवं शिल्प-बोध के कुछ प्रसिद्ध पाश्चात्य कहानीकारों ने ऐसी मिनी कहानियों का सूत्रपात किया है, जिनका आधार कोई-न-कोई घटना होती है। अपनी लघुता एवं सादगी के कारण ये मिनी कहानियां 'पुरानी कहानी' (Anecdotal) के समीप ठहरने का भ्रम उत्पन्न करती हैं। कहना न होगा कि आज की 'मिनी कहानी' को 'पुरानी कथा' की परम्परा से जोड़ना किसी भी रूप में संगत नहीं लगता। इसका कारण यह है कि पुरानी कहानियों में काल्पनिक घटनाओं का योग होने के कारण अनुभूति की प्रामाणिकता नहीं होती थी और प्रायः इनके द्वारा नैतिक उपदेशों को ही ग्रहण किया जाता था। दूसरी ओर आज की 'मिनी कहानी' कहानी-कला की एक सशक्त विधा है। इसका आधार कोई सार्थक मामूली-सी घटना होती है। कहानीकार इसको हर लिहाज़ से विशेषणहीन बनाना चाहता है ताकि यह यथार्थ के अत्यन्त समीप लगे। इसमें कोई अतिरंजना नहीं होती है। सपाट तथा सरल भाषा में एक मिनी कहानीकार सार्थक घटना का वर्णन करके कहानी में एक या दो संकेतों से काम लेकर इसका अन्त कर देता है। हेमिंग्वे, जेम्स ज्वाइस, क़ाफ़्का, आइज़क बेबेल तथा ऐसे ही दूसरे पाश्चात्य रचनाकारों ने 'मिनी कहानी' की परम्परा चलाई।

---

1. विस्तार के लिए देखिए 'समकालीन कहानी की पहचान' : लेखक डॉ० नरेन्द्र मोहन; पृ० 13-20।

मिनी कहानी का जन्म आज के वैज्ञानिक युग के कारण हुआ है। आज का युग घटनाओं का ज़माना है। प्रत्येक व्यक्ति आजकल, जहां निजी घटनाओं का शिकार हो जाता है, वहां समाचार-पत्र, रेड़ियो, टी० वी०, चलचित्र आदि के जरिए वह संसार की घटनाओं से इतना अवगत हो जाता है कि घटनाये सुनकर या सुनाकर आज का व्यक्ति न चकित हो जाता है और न ही चकित कर सकता है। इस बात का अहसास आज के मिनी कहानीकार को पूरी तरह है। वह घटना के माध्यम से पाटक को चौंकाना नहीं चाहता, उसको अतिरंजित नहीं करना चाहता; बल्कि यथार्थ एवं अनुभूत घटना को लेकर वह उसको सार्थक बनाने का प्रयत्न करता है। मिनी कहानी में, "मुख्य प्रश्न तो अर्थ है : घटना का अर्थ, अनुभव का अर्थ, किसी की ज़बान से निकले हुए मामूली से एक शब्द का अर्थ, किसी के चेहरे पर उभरी हुई एक हल्की सी रेखा का अर्थ ! हो सकता है कि इन संकेतों में कोई गूढ़ कहानी छिपी हुई हो। घटनाओं की भीड़-भाड़ में ये छोटे-छोटे संकेत प्रायः बड़े संकेत को प्रकट कर देते हैं, जैसे घुप्प अन्धकार में सहसा जुगनू की चमक !"[1]

हिन्दी के कहानी-साहित्य के क्षेत्र में रघुवीर सहाय ने मिनी कहानी की कला का श्रीगणेश किया। उन्होंने 'सेब', 'खेल', 'लड़के' तथा ऐसी ही दूसरी मिनी कहानियां लिखकर इस कला का सूत्रपात किया। 'सेब' नामक कहानी में एक साधारण-सी घटना घटती है। कथावाचक को सड़क के किनारे टूटे-से परेम्बुलेटर में बैठी बीमार-सी लड़की के हाथ में एक छोटा-सा लाल सेब दिखाई पड़ गया और वह एकदम रुक् से वहीं खड़ा रह गया। स्पष्ट है कि लाल सेब को देखकर कहानीकार को कोई नया सत्य झलक गया। कहानी का लगभग अन्तिम स्थल इस प्रकार है, "लड़की ने अपने सेब की तरफ देखा, पूछा, "बप्पा" बाप ने बड़े प्यार से मना कर दिया.........बीमार लड़की धैर्य से अपने सेब को पकड़े रही। उसने खाने के लिए जिद नहीं की।"[2] इन पंक्तियों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत कहानी का आधार एक साधारण-सी घटना है, जिसको लेखक ने सार्थक बनाने के लिए दो एक संकेतों से काम भी लिया है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि छोटी होने पर भी 'मिनी कहानी' दृष्टि, संवेदना आदि से आज की कहानी की ही एक विकसित विधा मानी जा सकती है। स्वयं रघुवीर सहाय इस प्रकार की कहानियों के

1. कहानी : नयी कहानी—डा० नामवर सिंह; पृ० 127।
2. 'सेब' : रघुवीर सहाय; दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 445।

बारे में कहते हैं, "ऐसे कोई कहानी नहीं कही जाती है कि यह हुआ फिर वह हुआ और अन्त में यह हुआ, इति। मगर यह खूब जानता हूं कि……… उसके बीच केवल एक घटना होती है और मुझे तो केवल घटना का वर्णन करना है, केवल यह बताना है कि जब दो व्यक्तियों, दो मानवों के बीच एक सम्बन्ध टूटा और दूसरा बना तो उसमें क्या कहानी पैदा हो गई।"[1]

रघुवीर सहाय के पश्चात् हिन्दी की मिनी कहानियों का विकास एवं विस्तार निरन्तर होता रहा। 'सारिका' के माध्यम से इस विधा की कहानियां समय-समय पर हिन्दी-जगत् के सामने आती रहीं। इन कहानियों की थीम बहुमुखी रही है। मोटे तौर पर इनको दो रूपों में देखा जा सकता है :—एक, वे कहानियां, जिनका आधार पुरानी घटनाएं हैं, किन्तु इनके माध्यम से नवीन एवं समसामयिक प्रश्नों, अप्रश्नों, समस्याओं, दृष्टिकोण आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस संदर्भ में 'रहस्य'[2], 'स्वर्ग-नरक'[3], 'अन्तिम शिक्षा'[4], 'श्रम और प्रताप'[5] तथा ऐसी ही दूसरी मिनी कहानियों को देखा जा सकता है, जिनमें पुरानी घटनाओं के आधार पर समसामयिक प्रश्नों, समस्याओं आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरी ओर कई कहानीकारों ने किसी समसामयिक घटना के आधार पर आज के व्यक्ति-व्यक्ति के बनावटी रिश्तों, युगीन कुटिलता, सत्तात्मक भ्रष्टाचार तथा ऐसे ही दूसरे विषयों पर करारे व्यंग्य किये हैं। 'प्रतिक्रियावादी'[6] (निशिकांत), 'रोग और निदान'[7] (रामनारायण उपाध्याय), 'सलीब पर लटका हुआ आदमी'[8] (हमदर्द वीर), 'लाल तेल'[9] (जसवंत सिंह बिरदी) आदि मिनी कहानियां समसामयिक घटनाओं पर रची गई इसी प्रकार की कहानियां हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दी के जिन कहानीकारों ने 'मिनी कहानी' के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त की है, उनमें से कई इस प्रकार हैं:—

1. 'छोटी है, मगर कहानी तो है!' : डॉ० नामवर सिंह; दे० कहानी : नई कहानी; पृ० 130।
2. रहस्य' : प्रतिपाल विरात दे० सारिका, मई, 1972; पृ० 17।
3. 'स्वर्ग-नरक' : बृजलाल कलोठिया, उपरिवत्; पृ० 67।
4. 'अन्तिम शिक्षा' : विभारानी पूनम, उपरिवत्; पृ० 35।
5. 'श्रम और प्रताप' : केशव झा; दे० सारिका, सितम्बर '72; पृ० 39।
6. सारिका; मई '72; पृ० 59।
7. वही; नवम्बर '72; पृ० 59।
8. वही; अगस्त '72; पृ० 27।
9. वही; सितम्बर '72; पृ० 33।

श्रीकान्त चौधरी, साहु मधुप, राम सुरेश, अजात शत्रु, सुरेश पांडेय, सुधाकर गोस्वामी, कृष्ण किशोर श्रीवास्तव, योगेन्द्रकुमार अग्रवाल, अनिल चौरसिया, दिनेशराय द्विवेदी आदि।

मिनी कहानियों को देखकर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह आज की कहानी की ही एक विकसित विधा है। इन कथाओं के माध्यम से जीवन का कोई लघु, किन्तु यथार्थ तथा ठोस सत्य प्रस्तुत किया जाता है। अपनी लघुता एवं सादगी के कारण 'मिनी कहानी' एक साधारण तथा विशिष्ट पाठक दोनों को अपनी ओर मोह सकती है। न्यूनतम शब्दों में ही अधिक-से-अधिक कहकर पाठक को प्रभावित करना मिनी कहानीकार की मुख्य विशेषता मानी जा सकती है। शिल्प-वैशिष्ट्य के आग्रह से मुक्त होने पर भी 'मिनी कहानी' पूर्णतया दो-एक व्यंग्यों एवं संकेतों से मुक्त नहीं रह पाई है। हो सकता है, प्रचलित कहानियों के अभ्यस्त पाठक इसे कहानी ही न मानें, "लेकिन क्या अपने आप में पूर्ण यह छोटी सी सार्थक घटना कहानी नहीं है? कहानी के लिए और चाहिए क्या? छोटी है, मगर कहानी तो है।"[1]—डॉ० नामवर सिंह का यह कथन अक्षरशः सत्य है।

1. कहानी : नयी कहानी—डा० नामवर सिंह; पृ० 130।

चतुर्थ अध्याय

स्वातन्त्र्योत्तर प्रतिनिधि हिन्दी कहानियों का विशेष अध्ययन

1. मिस पाल : मोहन राकेश (विकृत चेहरे की पूर्ण तस्वीर)

प्रस्तुत कहानी एक ऐसे व्यक्ति के इर्द-गिर्द घूमती है (या कहें एक ऐसे व्यक्ति के कई रूप प्रस्तुत करती है) जो आजीवन अकेलेपन का भार सहने के लिए अभिशप्त-सी है। अकेलापन सहन करना उसकी नियति है। प्रस्तुत कहानी पढ़कर यह ज्ञात होता है कि बचपन में 'मिस पाल' माता-पिता के प्यार से वंचित रही। जब बालिग हुई तो दिल्ली के किसी कार्यालय में उसको पाँच सौ की नौकरी मिली। अपने कार्यालय के जिन लोगों के साथ मिस पाल का पाला पड़ा, वह उनसे तंग आई है। कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी के कथावाचक रणजीत के माध्यम से संकेतों द्वारा यह बताया है कि मिस पाल का शरीर छोटा, मोटा, भद्दा एवं फूला हुआ है। इसलिए अपने इस भद्दे तथा मोटेपन को छुपाने के लिए ही वह विशेष ढंग के कपड़े पहनती है, बालों को छोटा रखती है तथा साज़-सिंगार से नफ़रत होने पर भी नाना प्रकार के प्रसाधनों को प्रयोग में लाती है।

दिल्ली में 'मिस पाल' जो जीवन व्यतीत कर रही है, वह उसके लिए भार बना हुआ है।[1] इसीलिए वह उस जीवन तथा वातावरण से बहुत दूर भागना चाहती है। परिणामस्वरूप वह कुल्लू और मनाली के बीच किसी छोटे से गांव में रहने लगती है। नौकरी से त्यागपत्र देने के ये मूल कारण नहीं

---

1. "दिल्ली मे भी उसका जीवन काफ़ी अकेला था, क्योंकि दफ्तर के ज्यादा लोगों से उसका मन-मुटाव था और बाहर के लोगों के साथ वह मिलती बहुत कम थी। दफ्तर का वातावरण उसे अपने अनुकूल नहीं लगता था। वह वहां एक-एक दिन जैसे गिनकर काटती थी। उसे हर एक से शिकायत थी कि वह घटिया किस्म का आदमी है, जिसके साथ उसका उठना-बैठना नहीं हो सकता।"
—क्वार्टर : मोहन राकेश; पृ० 14।

हो सकते हैं, क्योंकि महंगाई के इस ज़माने में कौन ऐसा होगा जो इन मामूली कारणों के लिए 500/- की नौकरी हाथ से जाने देगा। वास्तव में मिस पाल के लिए नौकरी से त्यागपत्र देने के लिए कई असाधारण कारण हैं, जो कि कहानीकार ने संकेतों तथा प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट किए हैं। दिल्ली की भीड़ हो या किसी अन्य महानगर की, मिस पाल को विश्वास-सा हुआ है कि आ-जीवन, "न उसे धन मिलेगा, न ख्याति मिलेगी और न ही प्यार।"[1] अतः इनसे वंचित यदि मिस पाल कहे कि "उसके जीने का कोई भी अर्थ नहीं है"[2], कोई ग़लत बात नहीं। जीवन की भीड़ और मेलों में कोई अपना न पाकर वह चिर-परिचित लोगों से दूर भागकर कुल्लू और मनाली के बीच किसी गांव में एकान्त में जीवन व्यतीत करने लगती है।

यों तो दिल्ली जैसे महानगर में भी उसका प्राइवेट जीवन अकेला रहा है। अकेलेपन के इन उदास क्षणों को पाटने के लिए वह संगीत और चित्रकला का अभ्यास करती है। इनसे जब वह ऊब जाती है तब शून्य को ताकती है। मानव-प्राणियों में कोई भी अपना न पाकर वह अपना प्यार देने या इसे प्राप्त करने के लिए पिंकी नामक कुत्ते को पाले रखी है और उसको अपने वश में करना चाहती है।[3]

जिस प्रकार उसके जीवन में बिखराव है, इसी प्रकार उसके कमरे की साज-सज्जा में अस्त-व्यस्तता है। जो चीज़ जहां होनी चाहिए, वह वहां नहीं है। कथावाचक रणजीत उसके कमरे का वर्णन इन शब्दों में करता है, "उसके कमरे में सितार, तबला, रंग, कैनवस, तस्वीरें, कपड़े तथा नहाने और चाय बनाने का सामान इस तरह उलझे-बिखरे रहते थे कि बैठने के लिए कुर्सियों का उद्धार करना एक समस्या हो जाती थी। कभी मुझे उसके झीने रेशमी कपड़े

---

1. क्वार्टर : मोहन राकेश; पृ० 33।
2. उपरिवत्; पृ० 31।
3. "वह कुछ देर के लिए उसे (पिंकी को) गोदी में लिए उसके गालों पर हाथ फेरती रही। मैंने पहले भी कई बार देखा था कि वह उस कुत्ते को एक बच्ची की तरह प्यार करती है और उसे खाना खिलाकर बच्चों की तरह ही तौलिये से उसका मुंह पोंछती है। मैं कुछ देर बाद वहां से उठकर चला, तो मिस पाल पिंकी को गोदी में लिए मुझे बाहर दरवाज़े तक छोड़ने आई।"

—क्वार्टर : मोहन राकेश; पृ० 18।

वाले तख्त पर बैठना पड़ जाता तो मुझे मन में बहुत परेशानी हो जाती।"[1] उसके कमरे का बिखरा हुआ वातावरण मिस पाल की आन्तरिक वृत्तियों का प्रतीक है। जिस व्यक्ति का मन उलझा तथा बिखरा हुआ हो, कोई अत्युक्ति नहीं यदि उसके कमरे का वातावरण भी अस्त-व्यस्त हो। जिस प्रकार उसका आन्तरिक तथा बाह्य जीवन विकृत है, उसी प्रकार वह चित्र-कला के माध्यम से विकृत तस्वीरों को बनाती है जो कि अपूर्ण हैं। इसका कारण यह है कि मिस पाल का निजी जीवन हर लिहाज़ से विकृत तथा अपूर्ण है, जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब उसकी तस्वीरों पर पड़ता दिखाई देता है। स्पष्ट है जिस व्यक्ति का हृदय तथा भावनाएं लयहीन हैं, वह लय का साज़ क्या छेड़े। मिस पाल की जैसी आन्तरिक भावनाएं हैं, वैसा ही बिम्ब उसकी बाहरी दुनिया पर पड़ा दिखाई देता है। कथावाचक रणजीत 'मिस पाल' की चित्रकला का वर्णन करते हुए कहते हैं, "वह अजीब-अजीब से चेहरे थे, जिन पर हम लोग एक वार फब्तियां कसते रहे थे। जाने क्यों, मिस पाल अपने चित्रों के लिए सदा ऐसे ही चेहरे चुनती थी जो किसी-न-किसी रूप में विकृत हों।"[2]

लेखक ने मिस पाल के एकाकीपन से उत्पन्न दर्द को बहुत बारीकी से दिखाया है। एकाकीपन का भार सहने के लिए अभिशप्त मिस पाल में हीन-ग्रन्थियां जन्म लेती हैं। इसीलिए वह कभी भाग्य को कोसती है तो कभी कहती है, "………मेरा तो बस एक ही इलाज है कि कोई हाथ में छड़ी लेकर मुझे ठीक करे। यह भी कोई रहने का ढंग है जैसे मैं रहती हूं।"[3] दिल्ली में गुजारे गये दिनों की बात वह इस ढंग से करती है, मानिये आज की 'मिस पाल' तथा दिल्ली में नौकरी करने वाली मिस पाल का कोई सम्बन्ध नहीं रहा है।[4]

सम्भव है कि रणजीत की सहानुभूति तथा साहचर्य में 'मिस पाल' कुछ देर के लिए अपने एकाकीपन से निकली हो और कुछ देर के लिए प्रसन्नता तथा उसे किसी के जीवन साथी होने का अहसास भी हुआ हो। किन्तु प्रसन्नता या यह अहसास 'मिस पाल' के लिए क्षण-भर का हो सकता है,

1. क्वार्टर : मोहन राकेश; पृ० 15।
2. उपरिवत्; पृ० 29।
3. उपरिवत्; पृ० 29।
4. उपरिवत्; पृ० 21।

जीवन भर का नहीं। यही कारण है कि मिस पाल कुछ देर के लिए रणजीत के साहचर्य में प्रसन्नता का अनुभव करती है, किन्तु शीघ्र ही वह अतिथि तथा बाह्य वातावरण से कटकर अपने एकान्त में लौटती है और पुनः उदास तथा खिन्न दिखाई देती है। मिस पाल द्वारा हफ्ते भर के लिए खाना बनाकर रखना या खाद्य-सामग्री न लाना उसके निरुद्देश्य, गतिहीन तथा नीरस जीवन का प्रतीक है। मिस पाल रणजीत से कहती है कि आज इसलिए ब.जार नहीं जाती कि दिन बरसात के कारण घिरा हुआ है।[1] ठीक है, "जब जीवन ही घिरा हुआ है तो सामान लाना भी बेकार है।"[2]

कहानीकार ने मिस पाल के एकाकीपन से उत्पन्न दर्द को कथावाचक रणजीत तथा मिस पाल के वार्तालापों से भी स्पष्ट किया है, जो कि पाठक को बहुत भीतर तक छीलता है।[3] गांव की स्कूल-लड़कियों का वार्तालाप भी, कि मिस पाल मर्द है या औरत, उसकी दीन तथा हीन स्थिति को ही दिखाता है। यह दशा तब सीमा-रहित हो जाती है जब 'मिस पाल' उन बच्चों को यह बुलाकर कहती है, "आओ बच्चो, यहां हमारे पास आओ·········हम तुम्हें मारेंगे नहीं, टॉफ़िया देंगे। आओ······"[4] किन्तु बच्चे पास आने की बजाय और भी दूर भाग जाते हैं। अन्त में कहानी का मर्म अपनी चरमसीमा

1. क्वार्टर : मोहन राकेश; पृ० 36।
2. हिन्दी कहानी : अपनी ज़वानी—डा० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 117।
3. "कुछ देर मुझे (रणजीत) लगता रहा जैसे मेरे आस-पास एक बहुत तेज़ सांस चल रही है जो धीरे-धीरे दबे पैरों, सारे वातावरण पर अधिकार करती जा रही है, और आसपास की हर चीज़ अपने पर उसका दबाव महसूस कर रही है। पानी की बौछार कुछ धीमी पड़ने लगी तो मैंने फिर से जाली की तरफ करवट बदल ली और पहले की तरह ही बाहर देखने लगा। तभी पास ही झन्न् से किसी चीज़ के गिरने की आवाज़ सुनाई दी।

   "क्या गिरा है रणजीत ?" अन्दर से आवाज आई।

   "पता नहीं, शायद किसी चूहे ने गिरा दिया है।"

   "सचमुच मैं यहां चूहों से वहुत तंग आ गई हूं।"

   मैं चुप रहा। अन्दर की (मिस पाल की) चारपाई फिर चिरमिराई।

   "अच्छा, सो जाओ।"

   —क्वार्टर : मोहन राकेश; पृ० 35।
4. उपरिवत्; पृ० 39।

पर पहुंच जाता है जब मिस पाल अपने अतिथि रणजीत को बस-स्टेशन पर विदा करने जाती है। जब बस स्टार्ट होती है, मिस पाल दोनों हाथों में लिए खाली डिब्बों को हिलाकर रणजीत को विदा करती है। ये खाली डिब्बे उसके शून्य हृदय के प्रतीक हैं।

'नई कहानी' के आलोचकों का यह कथन है कि कहानी सुनने-सुनाने या पढ़ने-पढ़ाने का विषय न रहकर समझने-समझाने की चीज़ रही है। यह कथन 'मिस पाल' जैसी सशक्त कथाकृति पर पूर्णतः घटित होता है। 'मिस पाल' के एकाकी जीवन में जो दर्द तथा तनाव उत्पन्न हुआ है, उसे कहानीकार ने सांकेतिकता तथा प्रतीक-पद्धति के माध्यम से समझाने की चेष्टा की है, जो कि इनकी व्याख्या करने से ही समझा जा सकता है।

प्रस्तुत कहानी को परम्परागत कहानी-तत्वों के सीमित कठघरे में विभाजित करके देखा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ इस कहानी में परम्परागत कथानक का ह्रास है, जो कि 'मिस पाल' के एकान्त जीवन से उत्पन्न दुःख को उभाड़ने के लिए इसमें कथ्य की कोई कमी नहीं है। कहानी का कथानक कारण-कार्य-परिणाम या आरम्भ, चरमसीमा तथा अन्त—इन तीन अवस्थाओं से नहीं गुज़रता है, जो कि नई कहानी के लिए कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। इस प्रकार कहानी की औत्सुक्य की विशेषता शून्य के बराबर है। प्रस्तुत कहानी में 'मिस पाल' के अस्त-व्यस्त जीवन को उघाड़ने में काफ़ी विस्तार भी मिला है जो कि डॉ० इन्द्रनाथ मदान की दृष्टि में अनावश्यक है।[1] उनका कथन है कि मिस पाल की "एक-एक चीज़ को टटोलने या सलवार-कमीज़ को उठा-उठाकर देखने से अस्त-व्यस्तता का चित्रण अधिक सजीव नहीं बनता।"[2] इसलिए वे आगे सलाह देते हैं कि "अगर उसकी घिसी कमीज़ की सीवनों के खुले जाने तक के विवरणों को सीमित रखा जाता, संयम या इशारों से काम लिया जाता, तो अनावश्यक विस्तार से बचा जा सकता था।"[3] डॉ० महोदय जब 'मिस पाल' के विवरणों को सीमित रखने की या इशारों से काम लेने की बात पर ज़ोर देते हैं, वे 'नयी कहानी' के रचनाकार की शब्दावली में ही बात करते हैं, जिसमें काफ़ी सार है। मगर जब कहानी में अनावश्यक विस्तार की बात की गई है, यह किसी हद तक असंगत जान पड़ता है। 'मिस पाल' एक ही वस्तु का बोध कराती है, जिसका स्पष्टीकरण पीछे हो चुका है। जिस प्रकार उसका जीवन

---

1. हिन्दी कहानी : अपनी ज़बानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 117।
2. उपरिवत्; पृ० 117।
3. उपरिवत्; पृ० 117।

अस्त-व्यस्त है, उसी प्रकार यदि 'मिस पाल' की रचना-प्रक्रिया में भी अस्त-व्यस्तता तथा अनावश्यक विस्तार आए तो स्वाभाविक ही है। अब वस्तु को शिल्प तथा शिल्प को वस्तु से पृथक् करके देखा नहीं जा सकता। अब शिल्प समझने तथा अनुभव करने की चीज़ रही है।

प्रस्तुत कहानी का शीर्षक इतिवृत्तात्मक है, जो कि प्रस्तुत कहानी की नायिका के नाम पर रखा गया है। यह शीर्षक सम्पूर्ण कहानी के मर्म को अपने में समेटता है और इस प्रकार यह सार्थक बन पड़ा है। सम्पूर्ण कहानी पर वैयक्तिक स्वर का प्राधान्य तथा अस्तित्ववाद का प्रभाव स्पष्ट है। कुल मिलाकर 'मिस पाल' मोहन राकेश की एक प्रतिनिधि कहानी तथा नई-कहानी-साहित्य की एक सफल तथा सशक्त कथाकृति मानी जानी चाहिए।

2. 'मांस का दरिया' : कमलेश्वर

नयी कहानी के रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में यथार्थ को दिखाने की सदा कोशिश की है। यथार्थ को दिखाना न उसके लिए कोई 'पोज़' है और न ही कोई 'फ़ैशन'। नया रचनाकार आरम्भ से ही इस प्रयास में रहा है कि उसकी कहानी यथार्थ जीवन को उकेरकर जीवन के बिल्कुल समीप आ जाए। यह यथार्थ वस्तु तथा 'ट्रीटमेंट' दोनों दृष्टियो से सच्चा है। दूसरे शब्दो में 'नयी कहानी' का रचनाकार अनुभव की प्रामाणिकता पर बल देता आया है। कमलेश्वर की एक मान्यताप्राप्त कहानी 'मांस का दरिया' पर उपरोक्त कथन शतश: घटित होता है। प्रस्तुत कहानी की 'जुगनू वेश्या' अपनी उफ़नती जवानी से गुज़र चुकी है, जबकि उसे ग्राहकों की कमी नहीं थी। परन्तु अब वह रद्दी माल है, जिसको अब रद्दी की टोकरी में फैंक दिया जाना चाहिए। उसका शरीर टूट रहा है, कमर में हड़फूटन है। कोई ग्राहक उस पर अधिक देर तक सवार रहे तो वह उसका भार सहन नहीं कर सकती। जांच करने वाली डाक्टरनी ने उसे बताया कि उसे तपेदिक के चिन्ह हैं। ऐसी स्थिति में भी जुगनू को सस्ती मेकअप की परत चढ़ाकर दो-चार आदमियों को अपनी ओर आकृष्ट करना ही पड़ता है। ये आदमी हैं—मदनलाल, मनसू, कंवरजीत आदि। देखा जाए, ये लोग भी आर्थिक-भार से ग्रस्त तथा उपेक्षित हैं। कहानीकार जुगनू के ग्राहकों का वर्णन करते हुए कहते हैं, "उसके हाथ में बड़ा सा थैला था। ख़ाकी पैंट और नीली कमीज़ पहने था। दाढ़ी बढ़ी हुई थी··· ···जुगनू ने बड़ी आसानी से थैला लेकर सिरहाने रख दिया था······उसने किरमिच के जूते उतारे थे तो बदबू का एक भभका उठा था······कुछ-कुछ वैसा ही जैसा कि बहुतों के कपड़े उतारने पर हुआ करता था······ख़ासतौर

से उस मनसू किरानी के पास से फूटता था, जो रात के ग्यारह के बाद ही आया करता था और निपट चुकने के बाद कमर में दर्द की वजह से शिला की तरह रह जाता था। तब जुगनू ही उसे उठाती थी और वह जांघ खुजलाता हुआ चला जाता था या फिर कंवरजीत होटलवाले की तरह, जो बदबू तो देता ही था और उठने से पहले खाट पर बैठा हुआ 'ओं-ओं' करके डकारें लेता था।"[1] अब प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में भी ये लोग जुगनू के पीछे क्यों हैं ? यहां कहानीकार का काम उत्तर देना नहीं है, बल्कि उत्तर के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करना है। मानव भले ही अपने आपको कुलीन, सभ्य, संस्कृत तथा संवेदनशील कहे, किन्तु उसकी बुनियाद हैवानियत तथा बर्बरता मे है। वह कभी-कभी जुगनू के एक ग्राहक मदनलाल की तरह मानव हो सकता है, मगर दूसरी ओर कंवरजीत, मनसू आदि की तरह व्यवहार करके वह अपने अभिजात-कुल पर कलंक लगाता है। कंवरजीत जुगनू के फोड़े की परवाह किए बिना उस पर पशु की तरह सवार होता है। कंवरजीत के भार से जुगनू की जांघ के फोड़े पर इतना दबाव आता है कि वह दर्द से कराह उठती है, उसकी आंखों के सामने अन्धेरा छा जाता है और जोर पड़ते ही जांघ फटने लगती है। किन्तु कंवरजीत में हैवानियत है। उसे जुगनू के चीखने-कराहने से कोई ग़रज नहीं। जब निपटकर कंवरजीत उसे छोड़ता है तो जुगनू की पूरी जांघ फूटे हुए फोड़े के मवाद से भरी हुई होती है और कंवरजीत उससे बिल्कुल अलग बैठा 'ओं······ओं'[2] करके डकारें ले रहा है।

इस प्रकार लेखक ने जीवन के नंगे यथार्थ की व्यंग्यात्मक नंगी तस्वीर खींची है या डा० मदान के शब्दों में कहें, "यहां नंगेपन पर झीना पर्दा डाल दिया गया है जो कि इसको और भी नंगा करता है।"[3] कहानी का यह झीना पर्दा नाममात्र का ही है। कहानी में कहीं-कहीं ऐसे स्थल भी हैं जहां इस झीने पर्दे को डालने की आवश्यकता भी महसूस नहीं की गई है। इस प्रकार कमलेश्वर अश्लील से अश्लील बात कहने में कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं करते हैं।[4] इससे कहानीकार की डारविन-सिद्धान्त-सम्बन्धी आस्था भी

---

1. मेरी प्रिय कहानियां : कमलेश्वर; पृ० 80।
2. उपरिवत्; पृ० 95।
3. हिन्दी-कहानी : डा० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 121।
4. (क) "खुदा मर्दों को रोजी दे······जांघ में जोर दे।"
   —मेरी प्रिय कहानियां : कमलेश्वर; पृ० 79-80।
   (ख) "अरी, ओ मरी जुबेदा ! जरा देख······रुस्तम जारिया है !

स्पष्ट होती है। जुगनू तब ही जिन्दा रह सकती है जब वह अपनी सेहत बनाकर, दूसरी चुस्त-व-दुरुस्त वेश्याओं की होड़ में पूरी उतरे और ग्राहकों को अपनी ओर आकृष्ट करके अपनी आजीविका कमा सके। परन्तु दिन-दिन उसका सौंदर्य और शरीर बिगड़ता जा रहा है और वह इस होड़ में पूरी उतर नहीं सकती। परिणामस्वरूप जुगनू के सौन्दर्य तथा शरीर के अनुपात से मदनलाल, कंवरजीत, मनसू जैसे लोग ही उसके ग्राहक हो सकते हैं।

जुगनू को इस बात का अहसास दिन-ब-दिन गहराता है कि जीवन की भीड़ में वह बस अकेली है। वह जानती है जिन लोगों के साथ उसका वास्ता है, वे उसके स्थायी साथी नहीं हो सकते। कहानी का एक स्थल इस प्रकार है, "(जुगनू के) बक्से में बारह बरस पहले का एक पर्चा पड़ा हुआ है, जिसके हरूफ भी उड़ गए हैं······अब उस पर्चे का कोई मतलब नहीं रह गया है। मसविदा मुर्दा हो चुका है। और अब कौन जाता है वापस······और कौन बुलाता है वापस·········जिन्दगियों के बीच से वक्त का दरिया किनारे काटता हुआ निकल गया है······कहीं कोई नहीं है······कोई कहीं नही है।"[1]

स्वास्थ्य बिगड़ने की वजह से जुगनू को एक दिन अस्पताल में भर्ती होना ही पड़ता है। वह अपने कई ग्राहकों तथा 'अम्मा' की आभारी है, जिन्होंने समय पर उसको रुपए उधार दिए थे। जुगनू जब सेनिटोरियम से लौटती है, वह तन और मन दोनों से बड़ी कमजोरी महसूस कर रही है। वह अब सभी लोगों से तंग की जाती है—पुलिसवालों से, क्योंकि उन्हें बहुत समय से जुगनू के कोठे का पैसा नही मिला है। उसके ग्राहक भी उसको पैसे लौटाने के लिए परेशान करते हैं। मगर जुगनू अब नकद में पैसे लौटाने में असमर्थ है, इसलिए अपनी मजबूरी को पीती हुई वह एक ग्राहक को कहती है, "कुव्वत हो तो वसूल कर ले जाओ।"[2] उधर उसके एक ग्राहक ने गंगाजली उठा ली है कि रंडीबाजी नहीं करेगा। यह कहानी-लेखक का जहां मनसू (जुगनू का ग्राहक) के प्रति व्यंग्य है, वहां दूसरी ओर यह जुगनू के लिए एक चोट है। बहरहाल वह अपने पैसे वसूल करने के लिए जुगनू के पास आ ही जाता है। मनसू की तरह ही जुगनू के दूसरे ग्राहक भी उसकी मजबूरी का पूरा-पूरा लाभ उठाते

बड़ा आया था पैलवान का बच्चा! ये मरदुआ सोएगा औरत के साथ।"

—उपरिवत्; पृ० 84।

1. मेरी प्रिय कहानियां : कमलेश्वर; पृ० 92।
2. उपरिवत्; पृ० 90।

हैं। इनमें संतराम, कंवरजीत तथा दूसरे लोग मुख्य हैं। कहानीकार ने मदनलाल (एक और ग्राहक) के माध्यम से मानवीयता का संकेत भी दिया है, किन्तु यह संकेत भावुकता में बदल नहीं जाता है। कहानीकार ने अन्त में कहानी को भावुक होने से बचा दिया है, जबकि कंवरजीत बेरहमी से जुगनू पर सवार होकर उससे अमानुषिक व्यवहार करता है। इस प्रकार प्रस्तुत कहानी पर लेखक की निजी आस्था को आरोपित नहीं किया गया है।

'मांस का दरिया' स्वयं एक प्रतीक है जो कि कहानी को समझकर स्पष्ट होता है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में, "इस तरह मांस का दरिया, जो अभिजात-कुलीन समाज से ओझल होकर बहता रहता है, एक चुनौती के रूप में उसके सामने बहने लगता है। इसका उत्तर तो कमलेश्वर के पास नहीं है; लेकिन इसका सामना करने का साहस अवश्य है।"[1]

प्रस्तुत कहानी की भाषा असलियत तथा सच्चाई की भाषा है—जिन्दगी के सम्पर्क की भाषा है। आज के कहानी-आलोचकों का यह कथन इस पर घटित होता है कि 'शिल्प' देखने की नहीं, अनुभव करने की चीज़ है। कुल मिलाकर 'मांस का दरिया' कमलेश्वर की एक सशक्त कथाकृति के रूप में स्वीकार की जानी चाहिए।

3. **छोटे छोटे ताजमहल : राजेन्द्र यादव** (प्रणय तथा परिणय के बिखराव की कहानी है।)

आजादी के बाद राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य क्षेत्रों में आमूलाग्र परिवर्तन आया, जिसका प्रभाव हमारी जीवन-विधि पर पड़ा। इसका एक सर्वाधिक प्रभाव व्यक्ति-व्यक्ति के रिश्तों पर भी पड़ा। नयी कहानी का रचनाकार इन बदलती स्थितियों को देखे बिना न रह सका, क्योंकि वह इनका सहयात्री होने के साथ-साथ सहभोक्ता भी रहा है। उसने इन सम्बन्धों का आधार बनाकर बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं। एक हिसाब से राजेन्द्र यादव की कहानी सम्बन्धों का आधार बनाने की कहानी है। इस संदर्भ में डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह कथन उचित है, "राकेश की कहानी में यदि नए संदर्भों की खोज है और कमलेश्वर की कहानी में दिशाओं को खोने की तो यादव को सम्बन्धों का आधार बनाने की।"[2] उनकी अधिकांश कहानियां सम्बन्धों को आधार मानकर लिखी गई हैं। "इस प्रकार यादव की अपनी कहानी और यादव के लिए आज की हिन्दी कहानी सम्बन्धों की कहानी

---

1. हिन्दी कहानी : डा० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 122।
2. उपरिवत्; पृ० 123।

है।"[1] उन्होंने बदलते, टूटते, बनते, बिखरते सम्बन्धों के पहलुओं पर न केवल सोच-विचार किया है, बल्कि इन्हें कथा-कृतियों के लिए आधार बनाकर परिवार तथा इसके सदस्यों तथा नारी-पुरुष के आपसी सम्बन्धों को लेकर भी कहानियां लिखी हैं, जोकि भीषण संक्रान्तियों से गुज़रे या गुज़र रहे हैं।"

राजेन्द्र यादव की एक बहुचर्चित कहानी 'छोटे-छोटे ताजमहल' स्त्री-पुरुष के दुराव तथा तनाव की सृष्टि को दिखाती है। कहानी का आरम्भ ही सम्पूर्ण कहानी के मर्म को अपने में समेटा हुआ है, जो इस प्रकार है, "वह बात न मीरा ने उठाई न खुद उसने। मिलने से पहले ज़रूर लगा कि कोई ज़रूरी बात है जिस पर दोनों को बातें कर ही लेनी हैं, लेकिन जैसे हर क्षण उसी बात की आशंका में उसे टालते रहे। बात गले तक आ-आकर रह गई कि एक बार वह फिर मीरा से पूछे—क्या इस परिचय को स्थायी रूप नहीं दिया जा सकता?—लेकिन कहीं पहले की तरह फिर उसे बुरा लगे तो? उसके बाद दोनों में कितना खिचाव और दुराव आ गया था।"[2] मीरा और विजय में यह सब-कुछ ताजमहल की छाया में होता है जहां दोनों मिलकर बिना कुछ कहे लौट आये थे। कहानी का एक और स्थल भी इनकी तनावपूर्ण स्थिति को दिखाता है: "विजय का ध्यान गया—बड़ी-बड़ी मूछों वाला कोई छोटा-सा कीड़ा मीरा की खुली गर्दन और ब्लाउज़ के किनारे आ गया था। झिझक हुई, खुद झाड़ दे या बता दे। उसने अपना मुंह दूसरी ओर घुमा लिया—प्रवेश द्वार की सीढ़ियां झाड़ियों की ओर आ गई थीं, सिर्फ ऊपर का हिस्सा दीख रहा था। हिचकिचाते हुए कैरम का स्ट्राइकर मारने की तरह उसने कीड़ा अंगुलियों से परे छिटका दिया, नसों में सनसनाहट सी उतरती चली गई। उंगलियों से वह जगह यों ही झाड़ दी, मानो गंदी हो गई थी।"[3]

कथानक को सघन बनाने तथा इस दुराव और तनात की स्थिति को गहराने के लिए कहानी के अन्दर एक दूसरी कहानी को भी बुना गया है—मिस्टर देव और राका की कहानी को। चूंकि ताजमहल की छाया में ही विजय तथा मीरा के बीच यह सब-कुछ होता है, इसलिए यदि विजय को वहां इस बात की याद आये कि कैसे एक सप्तवर्षीय दम्पति तहस-नहस हुआ, तो स्वाभाविक है। यह दम्पति है—मिस्टर देव और राका। जिस तरह वे हंसते-हंसते विवाहित जीवन में प्रविष्ट हुए थे, उसी प्रकार अब वे हंसते-हंसते ही

1. हिन्दी कहानी : डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 123।
2. मेरी प्रिय कहानियां : राजेन्द्र यादव; पृ० 48।
3. उपरिवत्; पृ० 49।

एक-दूसरे से अलग होना चाहते हैं। मिस्टर देव की धर्मपत्नी ने चाहा था कि ताजमहल की छाया में वे हनीमून मनायें, जो कि हो न सका था। उसके बदले वे ताजमहल में ही अंतिम संध्या हंसी-खुशी में काटकर सदा के लिए एक दूसरे से दूर होना चाहते हैं।[1] मिस्टर देव तथा राका की इस स्थिति का चित्रण फ़्लैश-बैक में आया है। राजेन्द्र यादव ने अन्त में विजय तथा मीरा की तनावपूर्ण स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है, "लगा, जैसे कोई मुर्दा क्षण है जिसका एक सिरा मीरा पकड़े है और दूसरा वह, और उसे चुपचाप दोनों रात के सन्नाटे में कहीं दफ़नाने लिए जा रहे हों......डरते हों कि किसी की निगाहें न पड़ जाएं......कोई जान न ले कि वे हत्यारे हैं......कहीं किसी झाड़ी के पीछे इस लाश को फेंक देंगे और खुशबूदार रूमालों से कसकर खून पोंछते हुए चले जाएंगे......भीड़ में खो जाएंगे..... । जैसे एक दूसरे की ओर देखने में डर लगता है......कहीं आरोप करती आंखें हत्या स्वीकारने को मजबूर न कर दें।"[2] इस प्रकार 'छोटे-छोटे ताजमहल' को एक प्रतीक के रूप में लिया गया है। ताजमहल की छाया में एक दूसरा छोटा सा ताजमहल बना है, जिस पर मुस्कराहट की सफेदी या चमक है, किन्तु भीतर एक मुर्दा क्षण या प्रेम है। कहानी का एक स्थल इस प्रकार है जोकि शीर्षक के मर्म को स्पष्ट करता है, "मीरा के चश्मे के कांचों में झांकती परछाई को देखकर, जाने क्यों उसे वही याद ताज़ी हो गई थी......वही ताज जो उस दिन हौज़ में मानो आसमानी जार्जेट के पीछे से झांक रहा था और अपने-आपसे लड़ते हुए देव उसे बता रहे थे।......आज अगर देव होते तो क्या जवाब देता......? तो क्या वे भी उसी तरह अलग हो रहे हैं......?"[3] मन का ताजमहल बाहर से तो सुन्दर दिखाई देता है, किन्तु इसका भीतरी रूप 'प्राणहीन शव'[4] के समान है। इस तरह कहानीकार ने ताजमहल को एक प्रतीक के रूप में गूंथने का प्रयत्न किया है।

अपनी कई विशेषताओं के बावजूद, कई आलोचकों ने प्रस्तुत कहानी पर तीव्र प्रहार किये हैं। उदाहरणार्थ डॉ० नामवर सिंह की शिकायत है कि इसमें मीरा और विजय को जिस स्थिति में पहुंचाया गया है उसकी प्रक्रिया का

---

1. मेरी प्रिय कहानियां : राजेन्द्र यादव; पृ० 61।
2. उपरिवत्; पृ० 63।
3. उपरिवत् ; पृ० 62।
4. कहानी : नयी कहानी : डॉ० नामवर सिंह; पृ० 161।

चित्रण कहानी में नहीं है। वे उस स्थिति की जटिलता का ब्यौरा जानना चाहते हैं जिसके कारण विजय और मीरा के बीच प्रेम की परिणति स्थायी सम्बन्ध में न हो सकी, जबकि कहानी में उस स्थिति का चित्रण नहीं है।[1] आगे वे कहते हैं कि कहानी के पात्रों में कोई निर्णय न लेने की जो कमज़ोरी है, वह कहानीकार की नैतिक-कमजोरी को दिखाता है। उनकी शिकायत यह भी है कि ताजमहल एक रोमांटिक प्रतीक है जो भावुकता की सृष्टि करता है। "इससे स्थिति की गम्भीरता का अहसास नहीं होता, बल्कि एक भावुकता की सृष्टि होती है। लेखक एक अनुभूति के वर्तमान क्षण में कैद हो जाता है और कहानी कमज़ोर हो जाती है।"[2] अन्त में वे चिन्तित होकर यह पूछते हैं कि इस तरह का 'मुर्दा भोगवाद' या अनुभूतिवादी दृष्टिकोण क्या हिन्दी-कहानी को अमरीकी कथा-साहित्य की राह पर तो नहीं ले जाएगा।

डॉ० महोदय जब इसे एक ओर अनुभूति के वर्तमान क्षण की कहानी मानते हैं तो दूसरी ओर मीरा और विजय के बीच तनावपूर्ण स्थिति का ब्यौरा चाहते हैं, जोकि कहानीकार के लिए सम्भव नहीं हो सकता था। तब बहुत सम्भव था कि प्रस्तुत कहानी में अनावश्यक विस्तार आ जाता। आगे वे पात्रों की नैतिक-कमज़ोरी को लेखक की निजी कमज़ोरी मानकर कोई नियम थोपकर उसे सरलीकृत करने का प्रयत्न करते हैं। कहानीकार ने अपनी कहानी में ऐसे ही चरित्रों का चुनाव क्यों किया, इसका कारण यह हो सकता है कि कहानीकार को ऐसे ही पात्रों से पाला पड़ा हो। इसलिए डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह कथन उचित है कि पात्रों तथा लेखक की नैतिक कमज़ोरी को कहानी के मूल्यांकन का आधार बनाकर, प्रतीक के छोटे होने और विराट् न होने की बात करके, रास्ते से लगाव तथा मंज़िल से भय के सवाल को उठाकर डॉ० नामवर सिंह का मूल्यांकन आरोपित लगता है।[3] इसके बदले जब डॉ० मदान प्रस्तुत कहानी की आलोचना इन शब्दों में करते हैं, वे सार की बात करते हैं, "(प्रस्तुत कहानी का) प्रतीक कहानी की रचना-प्रक्रिया का अभिन्न अंग न होकर इस पर आरोपित जान पड़ता है, अतीत की स्मृति से तार टूटा हुआ लगता है, उधेड़-बुन से सृजन में बाधा पड़ती है, ठहर-ठहर और रुक-रुककर मन की परतों को उघाड़ने से कहानी घड़ी होने का संकेत देती

1. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह; 160।
2. उपरिवत्; पृ० 160।
3. हिन्दी कहानी : डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 124।

है......।"[1] इसके अतिरिक्त ताजमहल का जो विशद काव्यात्मक चित्रण है, वह इसको कहानी की अपेक्षा कविता के समीप लाता है। ऐसा लगता है कि यह कहानी न होकर खंडित-काव्य है। इसके प्रतीक भी आरोपित लगते हैं। इसलिए कहानी की संवेदना सहज ही सम्प्रेषित नहीं होती है।

कई दुर्बलताओं के बावजूद प्रस्तुत कहानी की कई विशेषताएं तथा अपना महत्त्व है। कहानी का शीर्षक व्यंग्यात्मक है। कहानी दो स्तरों पर तो चलती है अर्थात् कहानी के भीतर कहानी है लेकिन प्रतीक ने इन्हें एक साथ बांध लिया है। यह सम्पूर्ण कहानी एक ही विचार-तत्त्व को लेकर चलती है, इस लिए लेखक ने इसको अनावश्यक विस्तार से बचाया है। इसमें 'प्रणय' तथा 'परिणय' दोनों स्थितियों का तनावपूर्ण चित्रण है जो कि आधुनिक युग का बोध कराता है।

(4) गुलकी बन्नो : धर्मवीर भारती

प्रस्तुत कहानी गुलकी की बेचारगी और अकथनीय व्यथा की कहानी है। गुलकी स्त्री के रूप में एक विक्षुब्ध मन है। स्वयं उसका पति कहता है कि यदि उसे रहना है तो दासी बनकर रहे नहीं तो 'हमारा हाथ बड़ा जालिम है, एक बार कूबड़ निकला, अगली बार परान निकलेगा।'[2] कहानी का सृजन चार दृश्यों पर आवलंबित है। पहले दृश्य में गुलकी दुकान लगाकर तरकारियां बेचती हुई दिखाई देती है। इसी दृश्य में घेघा बुआ के चौंतरे पर मुहल्ले के बच्चे गुलकी के कुबड़ेपन का मज़ाक उड़ाते हुए दिखाई देते हैं। दूसरे दृश्य में फटेहाल का चित्रण है। वह तिरस्कृत तथा उपेक्षित है। इस दृश्य में कहानीकार ने गुलकी के फटेहाल के जरिये कई व्यापक संकेत किए हैं।[3] कहानी का तीसरा दृश्य बच्चों के प्रसंग से शुरु होता है। यहां बच्चों का होना इसलिए आवश्यक समझा गया है ताकि इसके माध्यम से गुलकी की दयनीय स्थिति का चित्रण किया जा सके। इसी दृश्य के अन्त में मुहल्ले की

---

1. हिन्दी कहानी : डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 124।
2. गुलकी बन्नो : धर्मवीर भारती, दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ —श्री सुरेन्द्र; पृ० 186।
3. "बरखा और बिजली से धड़ाम से उसके मकान का गिरना और हर आंगन में कुबड़ी के रोने की आवाज को सुनाकर कहानी में व्यापक संकेत का देना है।"
—हिन्दी कहानी : अपनी ज़बानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 136।

मानवीयता को निरूपित किया गया है। यहां गुलकी का पति भी प्रकट होता है ताकि वह पत्नी से अपनी रखैल की सन्तान की सेवा कराए और सेवा के बदले में दो जून उसे रोटी देने के लिए मुहल्ले से ले जाए। चौथे दृश्य में वह बड़ी हुमस के साथ बन्नो बनी हुई है और इसी रूप में वह विदा होती हुई दिखाई गई है।

इस प्रकार कहानी में हमें ग़रीबी का अत्यन्त करुण चित्रण मिलता है। इस दीनावस्था में गुलकी जान गई है कि ग़रीब का दुनिया में कोई नहीं होता। इस अवस्था में सिर्फ आपसी कुत्सा, अन्याय, नीच पति, अज्ञ-भिखारी-दयनीय बच्चे आदि ही उसका साथ देते हुए दिखाई देते हैं। मुन्ना तथा उसकी मां गुलकी के लिए कहानी में करुणा दिखाते तो हैं, किन्तु कुछ कर नहीं पाते। इस विषम परिस्थिति में भी गुलकी में जिजीविषा है। वास्तव में ग़रीब गुलकी की जिन्दगी में भी एक रोमांस है। इस रोमांस को कहानीकार ने सही संदर्भों में प्रस्तुत कहानी के माध्यम से रूपायित करने का प्रयत्न किया है। कहानी में वीभत्स तथा विषाद छाया हुआ है।

'गुलकी बन्नो' की सृजन प्रक्रिया जिन दृश्यों से चलती है, वे कहीं एक दूसरे को काटते-छूते हैं, जिससे कहानी में संश्लिष्टता आई है। कभी-कभी ये एक-दूसरे से अलग जा पड़ते हैं, जिससे इसके सृजन में दरारें पड़ती हैं। कहानी का अन्त झबरी कुतिया के संकेत से गढ़ा हुआ दिखाई देता है। अपने विषम स्वर के बावजूद, यह शिल्प, संवेदना तथा दृष्टि से 'नयी कहानी' का बोध अवश्य कराती है।

(5) 'तव शुभनामे······' : फणीश्वरनाथ रेणु

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के रचयिताओं में 'रेणु' जी का एक अलग स्थान है। उनकी कहानियों में परिवेश का चित्रण आदि अंचल-विशेष की गंध बिखेरता है, जिससे उनकी रचनाओं में अनुभूति की प्रामाणिकता आई है। 'ठुमरी', 'रसप्रिया', 'तीसरी कसम' तथा ऐसी ही दूसरी कहानियां 'रेणु' जी की ऐसी कृतियां हैं, जिनमें समसामयिकता आंचलिकता के परिवेश में ढूंढ़ी गई है। 'तव शुभनामे······' भी उनकी ऐसी ही एक और कृति है। परिस्थितियों के दबाव के कारण आज का व्यक्ति बाहरी परिवेश से कटकर अन्तर्मुखी हो जाने के लिए अभिशप्त-सा है। 'राष्ट्रीयता', 'देश-प्रेम' तथा ऐसे ही दूसरे शब्द, जिनमें समष्टिगत मूल्य समाहित हैं, देश का हित भरा है, उसके लिए मर गए हैं। गांव का प्राकृतिक सौंदर्य उसका हृदय मोह नहीं

लेता।[1] शहर की भीड़ में वह अपने आपको खोया हुआ पाता है। देश की उन्नति के आंकड़ों में वह अपने आपको कहीं भी नहीं पाता। वह दिग्भ्रमित तथा निर्वासित है।

यही हाल कहानी के कथावाचक का है। वह अपने आपको शहर की भीड़ में खोया हुआ-सा पाता है। वह रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म के इस छोर से उस छोर तक चक्कर लगाकर यात्रियों को देखने का रोगी हो गया है। हीनग्रथियों ने उसमें जन्म लिया है। वह यौन-विकार के रोग का शिकार हो गया है। बैठे-बैठे वह मन-ही-मन संभोग तथा ऐसी ही दूसरी बातों के बारे में सोचता रहता है। कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी के माध्यम से कई व्यापक संकेत भी दिए हैं। स्वतंत्र भारत ने हमें जो वरदान दिया, वह कथावाचक ने इन शब्दों में बयान किया है, "गाड़ियां चीखती हुई आती हैं। रोती हुई, सिर धुनती हुई। पंजर मात्र शेष देहपिंजर, कोटरों में धंसी आंखें! अधमरे से नरकंकालों की टोलियां उतरती हैं······पागलों की तरह वे इधर-उधर दौड़ते हैं। ठोकर खाकर गिरते हैं। हंसते हैं, रोते हैं। नंगे-अधनंगे, चित्थी-चित्थी चीथड़ों में लिपटे लोग हवा में हाथ नचा-नचा कर पता नहीं क्या-क्या बोल रहें हैं।"[2] रेलवे स्टेशन पर एक दिग्भ्रमित व्यक्ति का इस प्रकार सोचना स्वाभाविक है। अत: यह कथन कहानी की रचना-प्रक्रिया पर आरोपित न होकर उसकी अपनी आवाज़ है। कथावाचक ने एक खोयी हुई आसाम की एक लड़की की मौत का जो चित्रण किया है, वह करुण है। कहानी में एक लड़की के दांत से सोने का पत्तर निकाले जाने का जो वर्णन है, उससे यह स्पष्ट होता है कि हम प्रकृत-देश में रह रहे हैं और यहां वही जिन्दा रह सकता है, जिसमें शक्ति हो। आगे मृतक-सत्कार समिति वाले

---

1. "गांव के 'चौपाल' और 'गोहाल' और 'अलाव' के किस्से भूल चुका हूं। कोसी कछार की हवा मुझे अब समय-असमय निमंत्रण नहीं देती और न दूर किसी गांव के ताड़ या खजूर या नारियल के पेड़ ही मुझे इशारों से बुलाते हैं। 'कमलदह' और 'रानीपोखर' के पुरइन फूलों के जंगल में भूल मन-भमरा जब बेमतलब गुनगुन नहीं करता।"
—तव शुभनामे······: फणीश्वरनाथ रेणु, दे० सारिका, जुलाई, 1971; पृ० 40।
2. तव शुभनामे······: फणीश्वरनाथ रेणु, दे० सारिका, जुलाई 1971; पृ० 40।

जबरदस्ती एक सोई हुई लड़की को स्ट्रेचर पर सुलाकर लेते हुए दिखाई देते हैं, जिससे यही स्पष्ट होता है कि 'मानवीयता' जैसा शब्द असार हो गया है। कथावाचक को आगे प्लेटफार्म पर केवल रिफ्यूजी ही रिफ्यूजी दिखाई देते हैं। कच्ची उम्र के मुसलमान, हिन्दू, सिख—सभी लोगों के चेहरों पर निराशा एवं व्यथा के भाव छाये हुए हैं। इस कार्यक्रम का समापन तब होता है, जबकि लाउडस्पीकर पर 'जन गण मन······' गाया जाता है। " 'तव शुभ नामे' के पास रेकार्ड कटा हुआ है, शायद। 'तव शुभ नामे—तव शुभ नामे' बार-बार बज रहा है !"[1] यह कथन न केवल कथावाचक का ही हो सकता है, बल्कि हम सब का, क्योंकि हम सब उसके सहयात्री तथा सहभोक्ता भी हैं !

प्रस्तुत कहानी की शिल्प वस्तु के अनुरूप ही है। ये एक दूसरे के समीप इतने आ गए हैं कि इन्हें अलग-अलग रूपों में देखने का तनिक विचार भी नहीं आता। रेलवे स्टेशन पर जिस प्रकार लोगों तथा गाड़ियों के आने-जाने के दृश्य बदलते रहते हैं, उसी प्रकार कहानी में भी एक कथ्य के बाद दूसरा कथ्य आता है, जिनमें पूरा राग-धर्म है। इस तरह कहानी का मूल स्वर पुष्ट से पुष्टतर होता जाता है। कहानी में गद्य की विभिन्न विधाएं, जैसे निबन्ध, रिपोर्ताज़ आदि भी आ गई हैं। किन्तु ये विधाएं इस रचना में एक दूसरे को इस प्रकार काटती हैं कि उन्हें अलग-अलग करके देखना सम्भव नहीं दिखाई देता। इस रचना को देखकर निस्संकोच कहा जा सकता है कि 'नयी कहानी' के रचयिताओं ने कहानी की परंपरागत समूची परिभाषा को ही बदल डाला है।

(6) परिन्दे : निर्मल वर्मा

प्रस्तुत कहानी का कैनवास शहर से दूर पहाड़ी कस्बे में स्थित एक कान्वेन्ट स्कूल तथा उसके चारों ओर के प्राकृतिक वातावरण तक फैला हुआ है। 'परिन्दे' की मुख्य पात्रा 'मिस लतिका' है, जिसके गिर्द यह कहानी चलती है। मूलत: यह कहानी मिस लतिका के एकाकीपन, रीतापन, अजनबीपन तथा टूटने की कहानी है। इसके अतिरिक्त डॉ० मुकर्जी, मास्टर ह्यूबर्ट, मिस वुड तथा स्कूल की कई छोटी लड़कियों का प्रसंग भी कहानी में आता है, जो कि कहानी को विस्तार देता तो है, किन्तु इसके रागधर्म को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग देता है।

2. तब शुभनामे······ : फणीश्वरनाथ रेणु, दे० सारिका, जुलाई 1971; पृ० 41।

मिस लतिका इस कान्वेन्ट स्कूल की एक अध्यापिका है। वह अपने प्रेमी मेजर गिरीश नेगी के लिए, जिसकी मृत्यु हुई है, टूटती जा रही है। उसकी याद करते-करते उसमें बुढ़ापेपन का अहसास होता जा रहा है। वह जिन लोगों के साथ तथा जिस वातावरण में जी रही है, वह उसमें अपने आपको अजनबी तथा अकेली महसूस करती है। प्रस्तुत कहानी का आरम्भ ही उसकी मानसिक व्यथा तथा उसके टूटने की ओर संकेत करता है।[1] आगे यही व्यथा भिन्न-भिन्न स्तरों पर व्यक्त की गई है, जिससे संवेदना के स्तर पर नए आयाम खुलते हैं तथा कई तथ्य उजागर होते हैं।

लतिका के स्कूल की छुटिटयां होने वाली हैं। स्कूल की छात्राओं तथा अन्य लोगों में घर लौटने के लिए प्रसन्नता एवं चहल-पहल है, किन्तु लतिका अपनी स्मृति में खोई हुई-सी है। वह यात्रा के लिए सबका सामान बंधवाती है लेकिन होस्टल के एकान्त तथा उदास वातावरण में रहने की अभ्यस्त होती जा रही है। वह काम-काज में दत्तचित होकर सब कुछ भूल जाने का प्रयत्न करती है। कहानी का एक स्थल इस प्रकार है, "……कब समय पतझड़ और गर्मियों का घेरा पार कर सर्दी की छुट्टी की गोद में सिमट जाता है, उसे कभी याद नहीं रहता।"[2]

निर्मल वर्मा ने लतिका के दर्द को उभारने के लिए पियानो के स्वरों को भी निकाला है। इस कहानी में "पियानो का हर नोट चिरन्तन ख़ामोशी की अन्धेरी खोह से निकलकर बाहर फैली नीली धुंध को काटता, तराशता हुआ एक भूला-सा अर्थ खींच लाता है।"[3] कहानी का दूसरा स्थल इस प्रकार है, "उसी क्षण पियानो पर शोपां का नोक्टर्न ह्यूबर्ट (Hubert) की उंगलियों के नीचे से फिसलता हुआ धीरे-धीरे छत के अन्धेरे में घुलने लगा—मानो जल पर कोमल स्वप्निल ऊर्मियां भंवरों का झिलमिलाता जाल बुनती हुई दूर-दूर किनारों तक फैलती जा रही हों।"[4] ये स्वर कथा-विधि पर आरोपित न

---

1. "अन्धेरे गलियारे में चलते हुए लतिका ठिठक गई। दीवार का सहारा लेकर उसने लैम्प की बत्ती बढ़ा दी। सीढ़ियों पर उसकी छाया एक बेडौल कटी-फटी आकृति खींचने लगी।"
   —परिन्दे : निर्मल वर्मा, दे० मेरी प्रिय कहानियां; पृ० 34।
2. परिन्दे, दे० मेरी प्रिय कहानियां : निर्मल वर्मा; पृ० 35-36।
3. उपरिवत्; पृ० 36।
4. उपरिवत्; पृ० 40।

होकर उसके भीतर से उभरते हैं और इस प्रकार कहानी की रचना-प्रक्रिया में राग की रचना इसका अभिन्न अंग बन जाता है।

पियानो के स्वरों को निकालने के साथ-साथ इस कहानी में प्रकृति-चित्रण भी किया गया है। इसका चित्रण सांकेतिक है जो संवेदना के नए आयामों को दिखाता है। उदाहरणार्थ एक संकेत उन परिन्दों से मिलता है जो बर्फ की चोटियों से उतरकर नीचे अनजान देशों की ओर उड़े जा रहे हैं, जहां शायद लतिका कभी नहीं जाएगी।[1] कहानी का यह स्थल लतिका की दीन अवस्था को दिखाता है, जो अपने ही एकान्त में बन्द परिन्दे की तरह छटपटाएगी। कहानी के अन्य प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी स्थल भी लतिका की मानसिक व्यथा, उसके अजनबीपन तथा शून्यता को दिखाते हैं। कहानी का एक और स्थल इस प्रकार है, "(लतिका) का सिर चकराने लगा, मानो बादलों का स्याह झुरमुट किसी अनजाने कोने से उठकर अपने में डुबो लेगा।"[2] बाहर से छायी हुई धुंध मूलत: लतिका के मन की धुंध है, जो कि उसका रास्ता रोके हुई है और वह दूर तक देखने या सोचने में असमर्थ-सी है। ऐसा लगता है कि मिस लतिका का वाह्य परिवेश उसके आन्तरिक परिवेश से जुड़ा हुआ है या उस पर हावी है। दूसरे शब्दों में, उसके मन का बिम्ब प्रकृति के विस्तृत वातावरण में फैला हुआ है। कहानी का एक और स्थल, "सुबह बदली छाई थी। लतिका के खिड़की खोलते ही धुंध का गुब्बारा-सा भीतर घुस आया, जैसे रात भर दीवार के सहारे सरदी में ठिठुरता हुआ वह भीतर आने की प्रतीक्षा कर रहा हो। स्कूल से ऊपर चैपल जाने वाली सड़क बादलों में छिप गई थी, केवल चैपल का 'क्रास' धुंध के परदे पर एक दूसरे को काटती हुई पेंसिल की रेखाओं-सा दिखाई दे जाता था।"[3] यहां बादलों का छाया रहना और उनका न बरसना लतिका के मन की घुमड़न को दिखाता है। कहानी के अन्त में जब लतिका जूली के तकिए के नीचे नीला लिफ़ाफ़ा दबा देती है, तो दूसरी ओर किसी कुत्ते की टिटियाहट तथा झींगरों का अनवरत स्वर सुनाई देता है। एक ओर जहां यह बाहर फैली निस्तब्धता को दिखाता है तो दूसरी ओर लतिका के आन्तरिक रीतेपन को भी गहराता है।

कहानी के मर्म को गहराने के लिए निर्मल वर्मा ने यहां अन्य पात्रों को भी लिया है। इनके आपसी सम्बन्धों तथा बातचीत से संवेदना के स्वर पर

---

1. परिन्दे; दे० मेरी प्रिय कहानियां : निर्मल वर्मा; पृ० 40।
2. उपरिवत्; पृ० 36।
3. उपरिवत्; पृ० 43।

एक और आयाम खुलने लगता है कि, "इन्सान की अपनी-अपनी ज़िद होती है। इसे कोई छोड़ देता है, कोई आख़िर तक इससे चिपका रहता है।"[1] डॉ० मुकर्जी होम-सिक है। वह अजनबी की हैसियत से पराई ज़मीन पर मरने की खौफ़नाक कल्पना करता है। डॉ० मुकर्जी की अपनी पत्नी के प्रति एक ज़िद है, यद्यपि वह मर चुकी है। वह सूनी तथा खोखली मुस्कराहट से यह दिखाता है कि, "चीज़ को न जानना अगर ग़लत है, इससे जोंक की तरह चिपके रहना भी ग़लत है। प्रेम एक ज़िद है। ह्यूबर्ट पुरानी वजह-कतह का आशिक है। लतिका के बारे में इसकी अपनी ज़िद है, लतिका की गिरीश के बारे में, डॉक्टर की अपनी पत्नी के बारे में, जो मर चुकी है। यह ज़िद स्मृति के रूप में कायम है।"[2] डॉ० मुकर्जी इस परिणाम पर पहुंच जाता है कि अतीत से छुटकारा पाना आवश्यक है। यदि अतीत वर्तमान पर हावी हो जाता है तो वह बाधक बनता है। लतिका यद्यपि अतीत को स्मृति से चिपकी-सी दिखाई देती है, तो इसे भूलकर वह वर्तमान में जीने का प्रयास करती हुई भी दिखाई गई है। इस संदर्भ में मिस लतिका का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है, "सब कुछ होने के बावजूद वह क्या चीज है जो हमें चलाए चलती है, हम रुकते हैं तो भी अपने रेले में वह हमें घसीट ले जाती है।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि लतिका गिरीश का स्मरण करने के बावजूद आगे बढ़ना चाहती है और उसी के साथ जोंक की तरह चिपकना नहीं चाहती। संभवतः इसी प्रेरणा से वह जूली के भाई के नाम, जो कि सैनिक आफिसर है, पत्र देती है।

इस प्रकार निर्मल वर्मा कई अर्थों में एक विशिष्ट कहानीकार हैं, जिनकी कहानी 'परिन्दे' में नवीन वस्तुक्षेत्र ही नहीं अपितु निर्वाह की एक विशिष्ट भंगिमा भी है। 'परिन्दे' में जीवन की वे अनुभूतियाँ हैं, जिन्हें एकान्तिक अनुभूतियां कहा जा सकता है। ये अन्तर्मुखी होने के कारण व्यक्तिपरक हैं। उनका प्रकाश बाहर नहीं, बल्कि आन्तरिक होता है। प्रस्तुत कहानी में समाज के स्थूल तथा बाहरी वास्तविकताओं के चित्रण के विपरीत, व्यक्ति के अन्तर्मन की अनुभूतियां हैं। दूसरे शब्दों में, यहां यथार्थ का दूसरा ही स्तर मिलता है जो अदृश्य है और, "जिसे कुछ विशेष क्षणों में भोगा-परखा जा सकता है। वह होता यद्यपि क्षणों का ही है लेकिन सम्भवतः अपेक्षाकृत अधिक शक्तिमान भी क्योंकि व्यक्ति की इकाई से वह सम्बद्ध है। उसे बहुत बारीक विश्लेषण और अभिव्यक्ति के सूक्ष्म स्तर की अपेक्षा होती है। ......'परिन्दे'

1. हिन्दी कहानी : अपनी ज़बानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 130।
2. उपरिवत्; पृ० 130-31।
3. परिन्दे, दे० मेरी प्रिय कहानियां : निर्मल वर्मा; पृ० 68।

उसी धरातल की कहानी है।"[1] डा० धनंजय वर्मा के उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है कि 'परिन्दे' की अनुभूतियाँ यद्यपि एकान्तिक तथा व्यक्तिगत हैं तो भी उनका परिवेश सीमित नहीं कहलाया जा सकता। ये किसी-न-किसी रूप में समाज से जुड़ी हुई हैं। डॉ० नामवर सिंह भी परिन्दे की अनुभूतियों को व्यक्तिपरक नहीं मानते हैं। उसके अनुसार कहानी में (क्या वे प्रतिक्षा कर रहे है ? लेकिन कहां के लिए, हम कहां जायेंगे ?)[2]—ये मामूली प्रश्न कहानी के माहौल में सिर्फ पक्षियों का या लतिका का व्यक्तिगत प्रश्न नहीं रह जाता। "जैसे इस प्रश्न से लतिका, डॉक्टर मुकर्जी, मि० ह्यूबर्ट सबका सम्बन्ध है—इन सबका और इनके अलावा भी और सबका। देखते-देखते प्रेम की एक कहानी मानव-नियति की व्यापक कहानी बन जाती है और छोटा-सा वाक्य पूरी कहानी को दूरगामी अर्धवृत्तों से वलयित कर देता है।"[3] ये दोनों कहानी-आलोचक कहानी में जिस व्यापकता की ओर संकेत करते हैं, उसमें काफ़ी सार है तथा कहानी के अधिक निकट होकर जाते हैं। निस्संदेह यह मानव-नियति की व्यापक कहानी बनी है।

प्रस्तुत कहानी पर कई आरोप भी लगाए गए हैं। उदाहरणार्थ इस पर विदेशीपन अथवा अभारतीयता का आरोप लगाया गया है। उसकी वस्तु शहर से दूर पहाड़ी इलाके में स्थित कान्वेन्ट स्कूल के होस्टल से सम्बन्धित है, जहां हर पात्र अंग्रेज़ियत के रंग से रंगा है। निस्संदेह कहानी का वातावरण विदेशी सा लगता है, क्योंकि प्रस्तुत कहानी का वातावरण भारतीय वातावरण से भिन्न एक विशिष्ट परिवेश का है। स्पष्ट है कि कहानी के ये पात्र जिस वातावरण में रहते हैं, उसके प्रभाव से वे अछूते नहीं रह सकते। इसके बावजूद कहानी में जिन अनुभूतियों तथा संवेदनाओं का चित्रण किया गया है, वे भारतीय हैं। तो भी, "कोई भी कहानी देशी या विदेशी उसके पात्रों और बाह्य-वातावरण से नहीं बनती .....उसका आन्तरिक वातावरण, उसकी प्रेरणा, अन्तर्वृत्त और दृष्टि ही कहानी को देशी या विदेशी बनाते हैं।"[4] इस संदर्भ में उषा प्रियंवदा की कई कहानियों को देखा जा सकता है। उनकी एक

1. नयी कहानी की उपलब्धियां : बारह कहानियां—डॉ० धनंजय वर्मा, दे० नई कहानी : दशा, दिशा सम्भावना : श्री सुरेन्द्र; पृ० 101।
2. परिन्दे : निर्मल वर्मा, दे० मेरी प्रिय कहानियां; पृ० 64।
3. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह; पृ० 66।
4. नयी कहानी की उपलब्धियां : डॉ० धनंजय वर्मा; दे० नई कहानी : श्री सुरेन्द्र; पृ० 102।

प्रसिद्ध कहानी 'मछलियां' अमरीकी वातावरण की कहानी होकर भी भारतीय ही है। 'परिन्दे' का बाह्य वातावरण तो बिदेशी है (जो होना भी चाहिए) किन्तु उसका आन्तरिक वातावरण, उसकी प्रेरणा तथा दृष्टि भारतीय है। उदाहरणार्थ परिन्दों के झुंड को देखकर लतिका अपने मन की कामना की अपूर्ति और अभाव को झेलती हुई दिखाई गई है। अपने दिवंगत प्रेमी के लिए लतिका के मन में अटकाव एवं आकर्षण है जो कि उसके पास सूक्ष्म स्मृति के रूप में रहा है। यह अनुभूति एवं संवेदना भारतीय है।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान को प्रस्तुत कहानी की राग-रचना में एक विषम स्वर भी लगा दिखाई देता है। उदाहरणार्थ उन्हें कहानी में, "दिल्ली का चित्रण और वहां कुतुब पर चढ़ना आरोपित जान पड़ता है।"[1] डा० महोदय के इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है किन्तु कहानी का सबल पक्ष इन छोटी दुर्बलताओं को अपने में आत्मसात् करता है। राजेन्द्र यादव को प्रस्तुत कहानी की काव्यात्मक भाषा इसलिए असंगत लगती है क्योंकि, "इस भाषा के माध्यम से चित्रण विविध वस्तुओं को पिघलाकर चेतना-धारा में बदल देता है। संगीत की भाषा भी संगीत के लिए न होकर विस्मृत को खींच लाती है।"[2] इस प्रकार उन्हें इस कहानी की संवेदना छायावादी-सी लगती है। वास्तव में 'परिन्दे' की कथा-वस्तु यथार्थ के सूक्ष्म और आन्तरिक स्तर से आती है और उसके पात्र एक विशिष्ट परिवेश से आते हैं। इस कहानी में "काव्यात्मक भाषा क्षणों की तरलता को पकड़ने के काम आती है।"[3] अतः प्रस्तुत कहानी पर यह आरोप लगाना असंगत जान पड़ता है। कुल मिलाकर प्रस्तुत कहानी के सभी तत्त्व एकरस होकर एक अन्वित प्रभाव की सृष्टि करते हैं।[4]

(7) **दोपहर का भोजन : अमरकान्त** (जीवन के शाश्वत यथार्थ की कहानी)

स्वातन्त्र्योत्तर कहानीकारों ने जहां एक ओर वैयक्तिक मूल्यों को महत्व दिया है, वहां दूसरी ओर वे समष्टिगत मूल्यों को महत्व देने में हिचकिचाते नहीं आये हैं। 'नयी कहानी' के रचनाकारों में अमरकान्त एक ऐसे कहानीकार हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं में व्यक्तिगत तथा समष्टिगत दोनों मूल्यों को

---

1. हिन्दी कहानी: डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 131।
2. उपरिवत; पृ० 131।
3. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह; पृ० 72।
4. उपरिवत्।

महत्व प्रदान किया है। 'दोपहर का भोजन' उनकी एक ऐसी रचना है, जहां वे व्यष्टि से समष्टि की ओर जाते हैं।

प्रस्तुत कहानी जीवन के शाश्वत यथार्थ की प्रतीति करवाती है। जिन्दगी की यातनाओं तथा संकट को भोगता हुआ आज का मनुष्य ज़िन्दगी के रहस्य को पाने की कोशिश कर रहा है। कहानी का आरम्भ ही इस बात की ओर संकेत करता है, "सिद्धेश्वरी ने खाना बनाने के बाद चूल्हे को बुझा दिया और दोनों घुटनों के बीच सिर रखकर शायद पैर की उंगलियां या ज़मीन पर चलते चींटे-चींटियों को देखने लगी। अचानक उसे मालूम हुआ कि बहुत देर से उसे प्यास लगी है। वह मतवाले की तरह उठी और गगरे से लोटा भर पानी लेकर गट-गट चढ़ा गई। खाली पानी उसके कलेजे में लग गया और वह 'हाय राम!' कहकर ज़मीन पर लेट गई।"[1] लेकिन सिद्धेश्वरी जीना जानती है। होश आते ही उसके जी में जी आता है। उसकी नज़र अध-टूटे खटोले पर सोए अपने छः वर्षीय लड़के प्रमोद पर जम जाती है, जिसके गले तथा छाती की हड्डियां साफ़ दिखाई देती हैं। उसका मुंह खुला है जिस पर अनगिनत मक्खियां उड़ रही हैं। इतने में सिद्धेश्वरी का बड़ा लड़का रामचन्द्र प्रवेश करता है। वह धूप तथा भूख से धम-से चौकी पर बैठकर बेजान-सा लेट जाता है। कहानीकार उसका परिचय इन शब्दों में करवाते हैं, "उसकी उम्र लगभग इक्कीस वर्ष थी। लंबा, दुबला-पतला, गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आंखें तथा होठों पर झुर्रियां।"[2] ऐसे नवयुवक को खाने के लिए केवल दो रूखी रोटियां तथा थोड़ी सब्जी मिलती है। रोटी समाप्त होने पर उसकी मां उसको एक और रोटी खाने का अनुरोध करती है। उसका कथन है "...... मेरा पेट पहले ही भर चुका है। मैं तो यह भी छोड़ने वाला हूं।"[3] —कितना व्यंग्यात्मक है। यह व्यंग्य कहानी-पाठक को भीतर तक कचोटता-सालता है। लगभग इतना ही खाना सिद्धेश्वरी के मंझले लड़के, जिसकी आयु अठारह वर्ष है, को मिलता है। इतने में सिद्धेश्वरी के पति मुंशी चन्द्रिका प्रसाद घर लौटते हैं। वे पैंतालीस होकर भी बूढ़े लगते हैं। "वे रोटी के एक-एक ग्रास को इस तरह चुमला-चबा रहे थे, जैसे बूढ़ी गाय जुगाली करती

---

1. दोपहर का भोजन : अमरकान्त, दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ —श्री सुरेन्द्र; पृ० 107।
2. उपरिवत्; पृ० 108।
3. उपरिवत्; पृ० 109।

है।"[1] सिद्धेश्वरी के पूछे जाने पर कि वह एक और रोटी ले ले, इन्कार कर देता है। सिद्धेश्वरी के अनुरोध करने तथा कसम रखने पर वह घर में बचे हुए थोड़े गुड़ को खाता है। गुड़ खाकर एक ओर उसके लिए सिद्धेश्वरी की कसम रहती है, तो दूसरी ओर उसका ज़ायका बदल जाता है और हाज़िमा दुरुस्त हो जाता है।[2] कहानीकार के उपरोक्त कथन में भी व्यंग्य है। जिसको भरपेट रूखी रोटी न मिलती हो, उसका हाज़िमा कहां से बिगड़ सकता है।

मुंशी जी के निबटने के बाद सिद्धेश्वरी के लिए एक रोटी तथा थोड़ी तरकारी बचती है। जैसे ही वह खाने बैठती है, उसका ध्यान सोए प्रमोद की ओर जाता है। इसलिए इस रोटी को दो बराबर भागों में विभाजित करके इसका आधा वह अपने प्रमोद के लिए सम्भालकर रखती है।

कहानी के अन्त में मुंशी जी बाहर की कोठरी में औंधे मुंह होकर निश्चितता के साथ सोए दिखाए गए हैं मानो "डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया-नियंत्रण-विभाग की कलर्की से उनकी छंटनी न हुई हो और शाम को उनको काम की तलाश में कहीं जाना न हो!......।"[3]

यह कहानी बाहरी तौर से आर्थिक भार से ग्रस्त घराने की लगती है, किन्तु कहानी का मर्म एक परिवार तथा उसके सदस्यों तक ही सीमित नहीं रहता। मध्याह्न का समय वह काल है, जबकि बाहर से पृथ्वी तथा उस पर रहने वाले लोग कड़कती धूप में जलते हैं और अन्दर से उनके पेट की अग्नि जलाए जाती है। एक ओर बाहर का परिवेश जलाने वाला है तो दूसरी ओर जठराग्नि जो लोगों को जलाती आई है। ऐसा लगता है कि बाह्य-वातावरण हमारे अन्तर का ही प्रतिबिम्ब है। इस प्रकार 'दोपहर का भोजन' एक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी के प्रभाव को गहराने के लिए तथा इसे समष्टिगत मूल्यों की कहानी बनाने के लिए वातावरण की स्थिति भी दिखाई है, "धूप अत्यन्त तेज़ थी और कभी-कभी एक-दो व्यक्ति सिर पर तौलिया या गमछा रखे हुए या मजबूती से छाता ताने हुए फुर्ती के साथ लपकते हुए सामने से गुज़र जाते।"[4] कहानी का एक और स्थल इस प्रकार है, "धूप और तेज़ हो गई थी। छोटे आंगन के ऊपर आसमान में बादल के एक-दो टुकड़े

1. दोपहर का भोजन : अमरकान्त, दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ श्री सुरेन्द्र; पृ० 111।
2. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 112।
3. उपरिवत्; पृ० 113।
4. उपरिवत्; पृ० 107।

पाल की नावों की तरह तैर रहे थे। बाहर की गली से गुज़रते हुए खड़खड़िया इक्के की आवाज़ आ रही थी और खटोले पर सोए बालक की सांस का खर-खर शब्द सुनायी दे रहा था।''[1] इसके अतिरिक्त सिद्धेश्वरी का अपने लड़कों से डरना या उनकी झूठी प्रशंसा करना भी कहानी के प्रभाव को गहराता है। जिस जवान लड़के को रूखा-सूखा बराबर खाना न मिले, वह अनुशासन की बात क्या समझे या जाने। सिद्धेश्वरी को जब लगता है कि अब वर्षा नहीं होगी अर्थात् जलती पृथ्वी वर्षा से शीतल नहीं होगी, उसका संकेत जठराग्नि शांत न होने की ओर ही है। दोपहर के भोजन के समय मक्खियों का भिन-भिनाना, सिद्धेश्वरी के लड़के प्रमोद का खुले मुंह सोना आदि संकेत भी कहानी के मर्म को तीव्र करते हैं तथा पाठक को बहुत भीतर तक छीलते हैं।

प्रस्तुत कहानी के पात्रों में अपनी स्थिति तथा वातावरण से विद्रोह की भावना कहीं भी नहीं है और न ही कहानीकार ने इस विद्रोह की भावना को उभारने के लिए तुलना आदि का सहारा लिया है। इसलिए प्रस्तुत कहानी को हम रूढ़ अर्थों में प्रगतिवादी कहानी नहीं मान सकते हैं। यह कहानी जिंदगी के शाश्वत यथार्थ की कहानी है। आज मनुष्य जीवन की यातनाओं को भोगता हुआ जिन्दगी के रहस्य को पाने की कोशिश कर रहा है। 'दोपहर का भोजन' के पात्रों में जीवन की यह जिजीविषा मौजूद है जो अपनी सीमित ज़िन्दगी में जीवन-बोध के रहस्य को जानने का प्रयत्न करते दिखाए गए हैं। जीवन की बाधाओं को झेलता हुआ, प्रस्तुत कहानी का पात्र जीवन के उन क्षणों का आनन्द लेता है, जहां पहुंचकर मनुष्य केवल एक मनुष्य रहता है। ऐसे समय उसकी शारीरिक व मानसिक विकृतियां तथा सामाजिक व राजनीतिक स्थिति अपने आप गल जाते हैं। वह झूठी प्रतिष्ठा तथा बहिर्गत रूतबों के सहारे नहीं जीता है या कहें उसके लिए ये सारे रुतबे समाप्त हो जाते हैं और वह मनुष्य होकर जीना चाहता है। जीने की यह इच्छा उसको मृत्यु झेलने की क्षमता प्रदान करता है।

(8) वापसी : उषा प्रियंवदा (विगत मूल्यों की असारता)

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी एक अर्थ में परंपरागत मूल्यों के विघटन की कहानी है। इन मूल्यों का विघटन मानवीय सम्बन्धों की जिन इकाईयों में बड़ी तीव्रता से महसूस होने लगा है, उनमें परिवार एक ऐसी इकाई है, जहां स्थापित नैतिकता के कई मूल्य खोखले प्रमाणित हुए हैं। परिवार सामूहिक संस्थाओं की आख़िरी कड़ी है, जहां व्यक्ति और उससे सम्बन्धित व्यक्तियों

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 109।

के आर्थिक, मानसिक एवं शारीरिक सम्बन्ध जुड़े हुए होते हैं, जिनमें दिन-ब-दिन दरारें पड़ती जाती हैं। उषा प्रियंवदा की एक सशक्त कहानी 'वापसी' लगभग इसी थीम पर रची गई है।

यह कहानी एक रिटायर्ड आदमी की है। गजाधर बाबू रेलवे-विभाग में एक छोटे स्टेशन मास्टर थे। पैंतीस वर्ष की लम्बी नौकरी के बाद वे घर लौटे। उन्होंने नौकरी का अधिकांश समय परिवार से दूर अलग गुज़ारा था। अब आशा थी कि अन्तिम समय घर के सदस्यों के बीच सुख तथा स्नेह से बीतेगा। घर में उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्री तथा बहू सभी थे। किन्तु घर में वे अपने आपको 'एडजेस्ट' न कर सके। उनकी सभी आशाओं पर पानी फिर गया और वे निराश होकर कुछ ही दिनों में उस जगह नौकरी करने के लिए वापस लौट पड़े, जहां वे स्टेशन मास्टर थे। यहां इस बात को स्पष्ट करना आवश्यक मालूम होता है कि अपने घर तथा परिवार के सदस्यों में वे क्यों खप न सके ? इसके भिन्न-भिन्न कारण हैं जिनकी ओर कहानी-लेखिका ने संकेत दिए हैं। पहला संकेत तब मिलता है जब गजाधर बाबू घर में प्रविष्ट होते हैं। इस चित्र से ही मानो कहानी की सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट होती है।[1] गजाधर बाबू के बच्चों में परम्परागत मूल्यों के तोड़ने की छटपटाहट है, अनुशासन भंग करने की ललक है, किन्तु सभ्यता तथा बाह्य परदे के झीने आवरण में आकर वे अनुशासन भंग न करने का एक नाटक रचते हैं जो कि बाद में आप-ही-आप भंग होता है।

नरेन्द्र, बसन्ती, बहू के मनो-विनोद में गजाधर बाबू भी भाग लेना चाहते थे किन्तु, "उनके आते ही जैसे सब ही कुंठित हो चुप हो गए, उससे उनके मन में थोड़ी-सी खिन्नता उपज आई।"[2] बैठते हुए बसन्ती को चाय के लिए

---

1. "(गजाधर बाबू ने देखा) नरेन्द्र कमर पर हाथ रखे शायद गत रात्रि की फिलम में देखे गए किसी नृत्य की नक़ल कर रहा था और बसन्ती हंस-हंसकर दुहरी हो रही थी। अमर की बहू को अपने तन-बदन, आंचल या घूंघट का कोई होश न था और वह उन्मुक्त रूप में हंस रही थी। गजाधर बाबू को देखते ही नरेन्द्र धप से बैठ गया और चाय का प्याला उठाकर मुंह से लगा लिया। बहू को होश आया और उसने झट से माथा ढक लिया, केवल बसन्ती का शरीर रह-रहकर हंसी दबाने के प्रयत्न में हिलता रहा।" -- वापसी : उषा प्रियंवदा, दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ —श्री सुरेन्द्र; पृ० 115।
2. उपरिवत्; पृ० 115।

अनुरोध किया किन्तु वह भी फीकी ही मिली। पत्नी के आते-आते वे सभी गजाधर बाबू के कमरे से खिसक चुके थे और उन्हें अकेला छोड़ दिया गया था। इस प्रकार वे अपने ही घर में तथा अपने सदस्यों के बीच अकेलेपन तथा अजनबीपन की स्थिति का अनुभव करते हैं। कहानी का एक और चित्र इस प्रकार है, "घर छोटा था और ऐसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए अस्थायी प्रबन्ध किया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुसियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली सी चारपाई डाल दी गई थी —गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े, कभी-कभी अनायास ही, इस अ-स्थायित्व का अनुभव करने लगते।"[1] गजाधर बाबू को अपने ही घर में अ-स्थायित्व का अनुभव होता है। उनकी चारपाई उस हीन स्थिति की प्रतीक है, जिससे वे गुज़र रहे हैं। कुछ दिन तो बैठक में पड़ी रही किन्तु शीघ्र ही पत्नी के छोटे-से कमरे में डाल दी गई जो कि घर के सामान से भरा हुआ गोदाम-सा था। घूमने के बाद जब गजाधर बाबू घर की बैठक में प्रविष्ट हुए तो अपनी चारपाई आचार, रजाइयों और कनस्तर के मध्य पत्नी की तंग कोठरी में पाई। यहां भी कहानीकार ने एक ओर संकेत किया है कि वयोवृद्ध रिटायर्ड व्यक्ति घर के दूसरे सदस्यों के लिए फालतू सामान के बराबर है और उसको फालतू सामान की तरह घर के गोदाम में रहना चाहिए।

गजाधर बाबू को लगा कि वे घर में फालतू या अनावश्यक सामान के बराबर हैं जो घर के किसी मामले में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। उन्हें अपनी पुत्री बसन्ती पर कोई वश नहीं चलता, जो मना करने पर भी पराए घर में जाती रहती है। उनका पुत्र अमर अलग रहने की सोच रहा है, क्योंकि उसकी बहू की शिकायतें बहुत हैं। अमर का कहना था कि गजाधर हमेशा बैठक में ही पड़े रहते हैं, इसलिए आने-जाने वाले के लिए कोई जगह नहीं। यह चोट गजाधर बाबू को तब और बढ़ी जब उन्हें मालूम हुआ कि अमर के अलग रहने का ख्याल गजाधर बाबू के घर में प्रस्थान की वजह से है। इसलिए उनमें यह अहसास गहराता गया कि उनका अस्तित्व घर के वातावरण का कोई भाग न बन सका और उन्हें अपनी उपस्थिति घर में असंगत-सी लगी।

गजाधर बाबू को इस बात का बहुत दुःख हुआ कि उनकी पत्नी भी उनसे असम्बद्ध रही। यह वही पत्नी थी जिसके कोमल स्पर्श तथा उसके

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 117।

मुस्कान की याद में उन्होंने सम्पूर्ण जीवन काट लिया था किन्तु अब जिस बेरूखी से गजाधर बाबू से बातें करने लगी, उससे गजाधर बाबू को ज़बर्दस्त ठेस पहुंची। उन्हें लगा कि, "वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गई और उसकी जगह आज जो स्त्री है, वह उनके मन और प्राणों के लिए नितान्त अपरिचिता है।"[1] इसलिए स्वाभाविक था कि गजाधर बाबू अपने आपको पत्नी व बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के लिए निमित्त मात्र समझते। परिणामस्वरूप वे गहरा अकेलापन महसूस करने लगते थे। उषा प्रियंवदा ने गजाधर बाबू की अकेलेपन की स्थिति को उभारने के लिए एक-दो स्थानों पर व्यंग्य का सहारा भी लिया है। उदाहरणार्थ गजाधर बाबू को "पटरी पर रेल के पहियों की खट्-खट् जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह था। तूफान और डाक गाड़ी के इंजनों की चिघाड़ उनकी अकेली रातों की साथी थी।"[2]

गजाधर बाबू की पत्नी भी घर में फालतू सामान के बराबर ही दिखाई गई है। वह जिस तंग कोठरी में रहती है, उससे स्पष्ट होता है कि वह गोदाम के फालतू सामान के बराबर है। वह घर में दासी की तरह चौका-बर्तन तथा अन्य अनेक काम करती है, फिर भी उसकी कोई मानता नहीं है। चूंकि घर-गृहस्थी की चक्की में पिसती आई है, इसलिए उसको अपनी स्थिति तथा अस्तित्व का कोई अहसास नहीं है। गजाधर बाबू की पत्नी के संदर्भ में कहानी-लेखिका का यह कथन कितना ठीक है, "वह घी और चीनी के डिब्बों में इतनी रमी हुई है कि अब वही उनकी सम्पूर्ण दुनिया बनी है।"[3]

अपने आपको परिवार में अकेला तथा असम्बद्ध पाकर गजाधर बाबू उसी जगह वापस लौट पड़े, जहां वे स्टेशन मास्टर थे। वहीं उन्होंने एक चीनी मिल में नौकरी ले ली।

प्रस्तुत कहानी का प्रभाव किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित नहीं हैं और न ही इसकी कोई चरम-सीमा है। यह प्रभाव पूरी कहानी पर व्याप्त है। इसका कथानक प्रभाव बढ़ाने के लिए गढ़ा गया नहीं है। कहानी में जो चित्र तथा घटनाएं हमारे सामने आते हैं. वे स्वाभाविक लगते हैं। इस संदर्भ में डा० नामवर सिंह का यह कथन उचित है कि प्रस्तुत कहानी में, "छोटी-छोटी

---

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 118।
2. उपरिवत्; पृ० 119।
3. उपरिवत्; पृ० 120।

घटनाओं के दृश्य-चित्र सामने आते हैं और सभी चित्र कुल मिलाकर एक जीवन-मर्म का अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। कहानी वर्णनात्मक से अधिक चित्रात्मक है, चरित्रों के क्रिया-कलापों पर आलोचनात्मक टिप्पणियां कम-से-कम हैं, क्रिया-कलापों का तथ्यपरक अंकन ही अधिक है।"[1]

व्यतीत कहानियों की तरह कहानी-लेखिका ने 'वापसी' के थीम को भावुक नहीं बनाया है, बल्कि इसको भावुक होने से बचाया है। यहां कोई भी पात्र गजाधर बाबू की दीन स्थिति के लिए आंसू की एक बूंद भी नहीं बहाता। गजाधर बाबू भी युग की आवाज़ तथा घर में अपनी स्थिति समझकर सहर्ष पुनः नौकरी के लिए वापस जाते हैं। वे देखते हैं कि परिवार के नवजवान सदस्यों में वे अपने आपको 'एडजेस्ट' करने में असमर्थ हैं। इसलिए जिस शीघ्रता से उन्होंने अवकाश प्राप्त करके घर में कदम रखे थे उसी जल्दबाज़ी में वे घर से वापस भी लौट पड़े। कहानी का शीर्षक 'वापसी' सांकेतिक है जो कि साधारणतः यह स्पष्ट करता है कि गजाधर बाबू नौकरी के लिए वापस लौट पड़े, किन्तु अपने साथ वे सारे परंपरागत आदर्श एवं मूल्य अपने साथ ले गए जो संयुक्त परिवार को बनाए हुए हैं। डॉ० धनंजय के शब्दों में, "यह एक व्यक्ति की अपने ही द्वारा निर्मित अपने ही परिवार से वापसी की कहानी न होकर सारे पुराने मूल्यों से वापसी और एक नई दिशा और राह पर चलने की कहानी (है)।"[2]

(9) 'तीसरा आदमी' : मन्नू भंडारी (स्त्री-पुरुष के बदलते रिश्तों की कहानी)

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी कई अर्थों में स्त्री-पुरुष के बदलते रिश्तों की भी कहानी है। इस काल में सहशिक्षा तथा स्त्री-शिक्षा के प्रसारण से नारी को अपने व्यक्तित्व तथा अपनी सत्ता का अहसास होने लगा। इस अहसास ने उसको समझाया कि वह पुरुष के बराबर है। विवाह-संस्था के द्वारा वह अपनी स्थिति को कमजोर नहीं होने देती, बल्कि इससे वह अपनी सुरक्षा चाहती है। एक ओर जहां वह अपने पति की होना चाहती है वहां दूसरे मित्र-पुरुषों या और लोगों के साथ वह सम्बन्ध स्थापित करने में हिचकिचाती नहीं है। वह रूढ़िग्रस्त भारतीय नारी की तरह अपना जीवन घर की चहार-दीवारी तथा अपने पति के प्रेम तक ही सीमित नहीं करना चाहती।

---

1. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह; पृ० 174।
2. नयी कहानी की उपलब्धियां : बारह कहानियां, दे० नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना—श्री सुरेन्द्र; पृ० 107।

मन्नू भंडारी ने स्त्री-पुरुष के बदलते रिश्तों को अपनी कहानियों में बारीकी से देखा-दिखाया है। 'तीसरा आदमी' भी उनकी एक ऐसी ही प्रसिद्ध कहानी है, जिसकी भावभूमि लगभग यही है। सतीश और शकुन दम्पति हैं। उनके विवाह को लगभग पांच वर्ष हुए हैं। वे एक दूसरे को दिल-व-जान से प्यार करते हैं। इन पांच वर्षों में उनका कोई बच्चा नहीं हुआ। मां न बनने का दु:ख शकुन को सताता रहता है। इस सिलसिले में वह डॉक्टरनी के पास भी जाती है। उसकी सलाह है कि वह सतीश को भी अपने साथ ले आए। जब वह अपने पति को यह बात कहती है, वह डॉक्टर के पास जाने से इन्कार करता है। इस सिलसिले में वह आन्तरिक दुविधा तथा संशय की स्थिति से गुज़रता है। एक ओर वह अपना मुलाहिज़ा करवाना अपमान समझता है तो दूसरी ओर वह पत्नी का यह लांछन सहन नहीं कर सकता कि उसमें कोई नुक्स है। वह निर्णय तथा अनिर्णय की स्थिति से गुज़रता है, जिसको कहानी-लेखिका ने कहानी में बड़ी सफलता से दिखाया है। मां न बन पाने के दु:ख से सतीश को लगता है कि शकुन उसकी बांहों में होकर भी उससे दूर होती जाती है। इस प्रकार वे तनाव की स्थिति से गुज़रते हैं। कहानी में उपरोक्त वर्णन 'फ़्लैश-बैक' के माध्यम से किया गया है।

सतीश और शकुन के घर आज एक अतिथि आने वाला है। वास्तव में वह अतिथि शकुन का अपना प्रिय लेखक है—आलोकनाथ। आलोकनाथ से उसका परिचय कई महीने पूर्व हुआ था, जब वह अपने भाई साहब के यहा गई थी। तब से शकुन तथा आलोकनाथ का पत्र-व्यवहार होता रहा। शकुन को कई बार आलोकनाथ के पुस्तक-सम्बन्धी पार्सल भी मिलते रहे। आज वह शकुन तथा कुछ हद तक सतीश के अनुरोध पर उनके यहां मेहमान बन कर आने वाला है। शकुन कमरा साफ करने तथा उसे सजाने में लगी है। कहानी में पुन: सतीश को संशय तथा द्वन्द्व की स्थितियों से गुजरता हुआ दिखाया गया है। उसको आलोकनाथ का अपने घर आना अच्छा नहीं लग रहा है। वह आंतरिक दुविधा में पड़ा हुआ है कि कहीं कुछ दाल में काला तो नहीं है। कहीं उसमें सचमुच नामर्द होने के आसार तो नहीं हैं। जिसके कारण शकुन उससे दूर होती जाती है।

अतिथि के आने पर वह उसको शिष्टाचार के नाते कम्पनी दे रहा है। उधर शकुन है, जिसमें जोश तथा उत्साह है। अतिथि से बातें करने के लिए उसने आज दफ़्तर से छुट्टी ले रखी है, किन्तु सतीश को छुट्टी लेने की सलाह नहीं देती। सतीश दफ़्तर जाता है किन्तु उसके सीने में सांप दौड़ने लगते हैं। वह आधे दिन के बाद ही छुट्टी लेकर घर लौटता है। वहां क्या

पाता है कि बाहर का दरवाजा बन्द है। यहां आकर वह पुनः दुविधा की स्थिति से गुजरता है कि दरवाजा खटखटाऊं कि नहीं। अन्त में वह निर्णय करता है कि वह कुछ देर के लिए इधर-उधर घूमेगा। घूमकर जब लौटता है तो शकुन तथा आलोक के कथन से उसे मालूम होता है कि वे उसी की प्रतीक्षा करते रहे। शकुन के अनुरोध पर सतीश आलोकनाथ को रेलवे-स्टेशन पर विदा करने जाता है। जब लौटता है तो शकुन को आलोकनाथ का एक नया उपन्यास पढ़ने में डूबी हुई पाता है।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत कहानी का शीर्षक 'तीसरा आदमी' एक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। शकुन अपने आपको पति तथा घर की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रख सकती है। वह अपने पति के होते हुए भी दूसरे लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं हिचकिचाती। शकुन के लिए ये सम्बन्ध केवल आलोकनाथ तक ही सीमित नहीं रह सकते, बल्कि उसका क्षेत्र विस्तृत भी हो सकता है। इस प्रकार कहानी का संकेत वृत होते हुए भी विस्तृत है। यह कहानी वैयक्तिक कहानी होकर भी समष्टिगत मूल्यों की कहानी है। चिन्तन के धरातल पर भी यहां नए आयाम खुलने लगते हैं।

कहानी में जब पाठक सतीश के द्वन्द्व तथा संशय की स्थिति से गुजरता है तो उसमें व्यतीत कहानी की तरह यह उत्सुकता बनी रहती है कि आगे क्या होगा। मन्नू भंडारी ने बड़ी कुशलता से इस उत्सुकता को केवल उत्सुकता तक ही सीमित रखा है और इस प्रकार कहानी को 'कार्य-कारण-परिणाम' की त्रिवेणी से गुजरने से बचाया है। यहां 'फ्लैश-बैक' के माध्यम से अनावश्यक विस्तार भी मिला है। 'यही सच है' की तरह इस पर आरोपित नाट्यात्मक रचना का आरोप नहीं लगाया जा सकता। कई दुर्बलताओं को छोड़कर प्रस्तुत कहानी भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी की एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार की जानी चाहिए।

(10) 'कुछ बच्चे : कुछ मांएं'—रमेश बक्षी

रमेश बक्षी ने उच्च, मध्य और निम्न-वर्ग के जीवन-मूल्यों का अन्तर प्रस्तुत कहानी में दिखाया है। ये तीन परिवार इन्दौर के 'कॉफी हाउस' के खुले आंगन में संयोगवश एकत्रित हो जाते हैं। कहानी का कथावाचक (मैं) तथा उसके भैया-भाभी और उनका मुन्ना कॉफी हाउस के आंगन में पहले ही बैठे हैं। कथावाचक के भैया-भाभी रहन-सहन, बातचीत, चवॉइस आदि से शुद्ध मध्यवर्गी हैं। इतने में उच्च-वर्ग के पति-पत्नी अपने बच्चे समेत कॉफी हाउस में प्रवेश करते हैं। उनके बोलचाल तथा दिखावे से स्पष्ट होता है कि

अभिजात्य वर्ग के लोगों में खोखलापन है। उधर मध्यवर्ग है जो कभी उच्च-वर्ग के लोगों की काल्पनिक दुनिया में विचरण करता है, तो कभी निम्न-वर्ग से सहानुभूति दिखाता जाता है। खेद इस बात का है कि वह न उच्च-वर्ग के लोगों का हो जाता है और न ही निम्न-वर्ग के लोगों का। इस प्रकार यह वर्ग दो विरोधी वर्गों के बीच टूटता-पिसता जाता है।

प्रस्तुत कहानी की 'भाभी' जब अपनी साड़ी की तुलना किसी पराये की 'स्टैण्डर्ड' कार के रंग से करती है, तो स्पष्ट है कि वे वही बनना चाहते हैं जो वे नहीं हैं। इस सन्दर्भ में कथावाचक का यह कथन उचित है, "मुझे उनका यह कहना बड़ा अटपटा लगा। कार किसी और की, साड़ी इनकी, मैच कैसे हुआ ? साड़ी का ब्लाउज़ से, ब्लाउज़ का रिबिन से, रिबिन का चप्पल से मैच समझ में आता भी है, और पति के कपड़ों से या खुद अपनी कार के रंग से मैच की बात की जाए तो वह भी एक बार मानी जा सकती है; पर...।"[1] इसका अभिप्राय यही है कि मध्य-वर्ग को एक लिहाज़ से उच्च-वर्ग से सांमजस्य करने की छटपटाहट है, किन्तु वे पूर्णरूपेण नहीं कर पाते। इस कथन का प्रमाण कहानी में तब मिलता है जब उच्च-वर्ग की जोड़ी का बाबा (उनका लड़का) खड़ा होने को होता है तो उसकी मम्मी उसे डांटती है। उधर मुन्ना को अपनी मां ने स्वयं ही कुरसी पर पहले ही खड़ा कर दिया था, किन्तु उच्च-वर्ग की भाभी के अनुसार वह भी मुन्ना को डांटकर कहती है कि उसने कुरसी गंदी कर दी।

आगे कहानीकार ने इन वर्गों के अलग-अलग दृष्टिकोणों की अभिव्यक्ति भी की है। होटल का 'बॉय' जब चाय ले आता है तो बाबा का कथन है कि चाय इतनी जल्दी कैसे बनी। कहीं तो यह चालू चाय नहीं है। उधर कथा-वाचक की भाभी की शिकायत है कि 'बॉय' ने चाय लाने में देरी की। वह इतनी देर में सौ आदमियों के लिए चाय बनाकर दे सकती है। इतनी देर में एक भिखारिन अपने लड़के समेत वहां प्रविष्ट होती है। उसके लड़के को बाबा के मम्मी-डैडी सामने तक फटकने नहीं देते जबकि कथावाचक की भाभी को उस पर दया आती है और अपनी आधी चाय उसके गिलास में उंडेल देती है। यहां 'पाठक' का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है कि मध्य-वर्ग कभी निम्न-वर्ग के साथ सहानुभूति दिखाता है। इनके चाय पीने का तरीका भिन्न है यद्यपि चाय एक-सी है। उच्च-वर्ग के लोगों का अनुरोध है कि उनका बाबा सासर के बदले कप में चाय पिये, जबकि कथावाचक की भाभी मुन्ना को

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 342।

सासर में ही चाय पीने का अनुरोध करती है। उधर भिखारिन का लड़का गिलास में चाय न पीने के कारण मार खाता है।

इसके बाद तीनों बच्चे आपस में खेलते हैं। उनके खेल में कुत्ते का पिल्ला भी सम्मिलित होता है। "इनके बालकों में सामाजिक विषमता के बोध का अभाव है, मानवीय एकता की झलक है। इनका आपस में बोलना इस एकता का सूचक है।"[1] इनकी मांएं इसे सहन नहीं कर पातीं कि उनके बच्चे एक पशु से खेलें, इसलिए तीन माताएं अपने बालकों को अपने-अपने पास बुलाती हैं। उधर कुत्तिया भी अपने पिल्ले को बुलाने पर बाधित हो जाती है। "इस तरह मानव-जगत और पशु-जगत में विषमता को उजागर करने में कहानी व्यापक संकेत देने लगती है और यह संकेत कहानी के भीतर से उभरता है।"[2]

रमेश बक्षी तीन माताओं के विभिन्न दृष्टिकोणों से जब जीवन की विषमता को उजागर करते हैं तब यह कहानी की रचना-प्रक्रिया को व्यंग्य के स्तर पर उठाता है। परन्तु कॉफी हाउस के आंगन में उनका संयोगवश एकत्रित होना रचना-प्रक्रिया पर आरोपित-सा जान पड़ता है। हां कहानी का व्यंग्य एवं एक-दो संकेत सृजन-प्रक्रिया के भीतर से उभरते हैं जो कि इसको वास्तविक बनने में सहायक बनते हैं। कहानी का आरम्भ निबन्ध की तरह हुआ है;[3] जबकि पात्रों के वार्तालाप उनकी स्थिति तथा वातावरण के अनुरूप हैं। कई दुर्बलताओं को छोड़कर प्रस्तुत कहानी भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी की एक उपलब्धि मानी जानी चाहिए।

(11) 'कोसी का घटवार' : शेखर जोशी

प्रस्तुत कहानी एक ऐसे व्यक्ति की कथा है जो जीवन भर एकाकीपन का भार सहने के लिए अभिशप्त-सा है। कहानी का नायक गुसाइं एक अवकाश-प्राप्त

---

1. हिन्दी कहानी : अपनी ज़बानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 149।
2. उपरिवत्; पृ० 149।
3. "इन्दौर में एक ही ऐसा कॉफ़ी-हाउस है, जहां गर्मी के दिनों में बाहर लॉन में कुर्सियां बिछा दी जाती हैं, क्योंकि दोपहरियां उमसीली होती हैं और मन बाहर की ओर ही दौड़ता है। ऐसे में किसी होटल की एक-से-एक लगी कुरसी पर जा बैठो या एक-दो के साथ कैबिन में जा घुसो तो दम घुटने लगता है।"—कुछ बच्चे : कुछ मांएं—रमेश बक्षी —दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 341।

सैनिक है। उसका इस संसार में कोई नहीं है। न उसके मां-बाप हैं, न भाई-बहन। समय व्यतीत करने के लिए उसने अपने गांव के पास ही पनचक्की चलाने का काम आरम्भ किया है। फौज में भर्ती होने से पूर्व उसने अपने गांव की लछमा नामक एक लड़की से प्रेम किया था। लछमा ने 'गंगानाथ ज्यू' की कसम खाई थी कि वह वैसा ही करेगी, जैसा गुसाईं उसको करने को कहेगा, किन्तु वैसा न हो सका। लछमा का पिता गुसाईं के विवाह-प्रस्ताव को इसलिए नहीं माना क्योंकि उसका आगे-पीछे कोई नहीं था और, "परदेश में बन्दूक की नोक पर जान रखने वालों को (वह) छोकरी कैसे दे दे।"[1] परिणामतः लछमा का विवाह रामसिंह नामक किसी दूसरे आदमी से हुआ। लछमा को प्राप्त न करने का दुःख गुसाईं को कचोटता-सालता गया। उसमें एकाकीपन का भाव गहराता गया। उसने एकाकीपन को अपना साथी बनाया। वह लगातार गतिशील रहा। एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन का वालंटियरी ट्रांसफर लेने वालों की लिस्ट में गुसाईं सिंह का नाम ऊपर आता था —लगातार पन्द्रह साल तक।"[2] अवकाश प्राप्ति के बाद अकेले क्षणों को पाटने के लिए ही पनचक्की चलाने लगा। जिस प्रकार उसकी चक्की का पाट 'खस्सर-खस्सर' करके चल रहा है, 'किट-किट-किट' खप्पर से दाने गिराने वाली चिड़िया पाट पर टकरा रही है, छिच्छिर-छिच्छिर' की आवाज के साथ मथानी पानी को काट रही है, उसी एकतानता के अनुरूप गुसाईं का जीवन है।

संयोग से इतने वर्षों के बाद गुसाईं लछमा से इस पनचक्की पर मिला, जबकि वह पिसान के लिए वहां आई। उसके साहचर्य तथा वार्तालाप से गुसाईं के नीरस जीवन में थोड़ी सरसता आई मानो "कोसी की सूखी धार अचानक जल-प्लावित होकर बहने (लगी)।"[3] इस बीच वह भी विधवा हो चुकी है और वह अपने बच्चे समेत बड़ी कठिनाई से दिन व्यतीत कर रही है। इस तरह अज्ञान दूर होने की अनुभूति दोनों के लिए गहरी हो जाती है। आगे कहानीकार ने गुसाईं की उपस्थिति में लछमा का जो वर्णन किया है, वह कहानी की रचना-प्रक्रिया को काव्यात्मक स्तर प्रदान करता है।[4] गुसाईं का

---

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 393।
2. उपरिवत्; पृ० 393।
3. उपरिवत्; पृ० 396।
4. "अचानक उसका ध्यान उस ओर चला गया, जहां लछमा बैठी थी। दाड़िम की फैली-फैली अधढकी डालों से छनकर धूप उसके शरीर पर

लछमा के पुत्र के प्रति सहानुभूति तथा वात्सल्य रस का उमड़ना तथा उसका लछमा को पैसे की पेशकश करना कहानी में जहां 'औत्सुक्य' उत्पन्न करता है, वहां इसे भावात्मक भी बनाता है। यह तत्त्व कहानी में ज्यादा देर तक नहीं रहता क्योंकि, "लछमा इन्कार के ठंडे छींटे देकर झाग बिठा देती है।"[1]

लछमा का ज़मीन पर गिरे दाड़िम के एक फूल को हाथों में लेकर और उसकी पंखुड़ियों को एक-एक कर निरुद्देश्य तोड़ना लछमा के निरुद्देश्य तथा उपेक्षित जीवन व्यतीत करने की ओर संकेत है। कहानी के अन्त में गुसाईं का निम्नलिखित कथन इसको व्यंग्यात्मक स्तर पर उठाता है, "कभी चार पैसे जुड़ जाएं, तो गंगानाथ का जागर लगाकर भूल-चूक की मांग लेना। पूत-परिवार वालों को देवी-देवता के कोप से बच रहना चाहिए।"[2] इस संदर्भ में डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह कथन शतंश: सत्य है, "एक विधवा के लिए देवी-देवताओं के कोप का शेष क्या रह जाता है?, इस तरह कहानी में वस्तु-स्थिति का स्वीकार है, रोमांटिक बोध का कुहासा अन्त में छंट जाता है।"[3] गुसाईं का यह कथन, 'पेट क्या है, घर के खप्पर की तरह जितना डालो, कम हो जाए। अपने-पराए प्रेम से हंस-बोल दें, तो वही बहुत है दिन काटने के लिए।"[4] कहानी में शाश्वत सत्य तथा व्यापकता की ओर संकेत करता है।

'कोसी की घटवार' का आरम्भिक पैराग्राफ ही कहानी की वस्तु-स्थिति की ओर संकेत करता है या कहें इसमें कहानी का सम्पूर्ण मर्म समेटा गया है।[5]

पड़ रही थी। सूरज की एक पतली किरन न जाने कब से लछमा के माथे पर गिरी हुई एक लट को सुनहरी रंगीनी में डुबा रही थी। गुसाईं एकटक उसे देखता रहा।"

—नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 397।

1. हिन्दी कहानी : अपनी जबानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 135।
2. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 401।
3. हिन्दी कहानी : अपनी जबानी – डा० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 135।
4. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 400।
5. "गुसाईं का मन चिलम में भी नहीं लगा। मिहल की छांह से उठकर वह फिर एक बार घर के अन्दर गया।'......खप्पर में हाथ डालकर उसने व्यर्थ ही उलटा-पलटा और चक्की के पाटों के वृत्त में फैले हुए आटे को झाड़कर एक ढेर बना दिया।......खस्स-खस्स की ध्वनि के

कहानी के आरम्भ का पूरक इसका अन्त है । गुसाईं ने लछमा के साहचर्य में भले ही थोड़े समय के लिए कुछ सरसता का अनुभव किया हो किन्तु उसके जाते ही वह पुनः अपने ही सुनसान में लौटता है ।[1] इस प्रकार कहानी की सृजन-प्रक्रिया को संतुलित रखने का सफल प्रयत्न किया गया है ।

"कोसी का घटवार" प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है । घटवार गत्यात्मक जीवन का प्रतीक है, जिसके पाट में गुसाईं आजीवन पिसता गया है । उसका घाट जल की कमी के कारण ठीक तौर से न चलने का संकेत गुसाईं के स्रोत-हीन जीवन की ओर संकेत है । वह अपनी पनचक्की चलाने के लिए दूसरों से लड़कर नदी की पूरी चौड़ाई को घेरकर, पानी का बहाव घर की गूल की ओर मोड़ देता है, किन्तु अपने जीवन की चक्की को चलाये रखने के लिए वह पानी का बहाव इसकी गूल की ओर मोड़ने में असमर्थ रह जाता है ।

'खस्सर-खस्सर', 'किट-किट', छिच्छिर-छिच्छिर' जैसे शब्दों में नाद-सौन्दर्य है । पात्रों का बोल-चाल ग्रामीण है जो कि इसको स्थानीय रंग प्रदान करता है । अपनी कई विशेषताओं के बावजूद प्रस्तुत कहानी आलोचना से बच नहीं पायी है । उदाहरणार्थ डॉ० मदान को कहानी की सृजन-प्रक्रिया में एक खरोंच तब लगती है जब गुसाईं लछमा के बेटे को रोटी खिलाकर वत्सलता दिखाता है ।[2] "इन छोटी-छोटी दरारों के अलावा कहानी में वातावरण की सृष्टि, कोसी के परिवेश का चित्रण, घर की मन्द चाल, जीवन की मन्थर गति, काटने वाले अकेलेपन की अनुभूति, घटवार की कसक और टीस और अन्त में झिझककर लछमा को गंगानाथ के नाम पर यह सीख देना, जिसके नाम पर उसने वचन दिया था आदि की अभिव्यक्ति संश्लिष्ट रूप में

साथ अत्यन्त धीमी गति से ऊपर का पाट चल रहा था । घर का प्रवेश-द्वार बहुत कम ऊंचा था, खूब नीचे तक झुककर वह बाहर निकला । सिर के बालों और बांहों पर आटे की एक हल्की सफेद पर्त बैठ गई थी ।"
—उपरिवत्; पृ० 390 ।

1. "घर के अन्दर काठ की चिड़ियां अब भी किट-किट आवाज़ कर रही थीं, चक्की का पाट खिस्सर-खिस्सर चल रहा था और मथानी की पानी काटने की आवाज़ आ रही थी, और कहीं कोई स्वर नहीं, सब सुनसान ……निस्तब्ध……!" 'कोसी का घटवार'—शेखर जोशी ।
—दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ—पृ० 401 ।
2. हिन्दी कहानी : अपनी ज़बानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 135 ।

हुई है।"[1] डॉ० महोदय के उपरोक्त कथन में आंशिक सत्य है किन्तु जब वे इसे लम्बी कहानी मानते हैं तो इससे पूरा न्याय नहीं करते। क्या प्रस्तुत कहानी निर्मल वर्मा की 'लन्दन की एक रात' या मन्नू भंडारी की 'यही सच है' से आकार में छोटी कहानी नहीं है, जिन्हें लम्बी कहानी की सूची में नहीं रखा गया है?

(12) 'दाम्पत्य' : राजकमल चौधरी

प्रस्तुत कहानी की रचना अनेक स्तरों पर चलती है। राजनाथ मेहता और उर्मिला दम्पति हैं। वे एक दूसरे से प्रेम करते हैं तथा शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। राजनाथ को सरकारी काम के लिए कई महीनों के लिए विदेश जाना पड़ा। उन्होंने बड़ी कोशिश की कि उर्मिला भी उसके साथ आए, किन्तु ऐसा नहीं हो सका। परिणामस्वरूप उनके चले जाने पर उर्मिला अपनी कोठी पर अकेली रहने लगी। इस बीच एक सुन्दर, सुडोल तथा चुस्त नारी का उसके यहां आना-जाना हुआ। यह नारी श्यामली थी जो कि एक मिल्ट्री आफ़िसर की विधवा थी। उसकी प्रेरणा से तथा अपनी नैतिक कमज़ोरी के कारण वह वेश्या बन गई। अपनी कोठी छोड़कर वह किसी बड़े होटल में रहने लगी। राजनाथ विदेश से लौटे तो अपनी उर्मिला को घर से गायब पाकर बहुत दुःखी हुए। उन्होंने विज्ञापन द्वारा उसको अपने आने का समाचार दिया, किन्तु वह न लौटी।

एक रोज़ श्यामली पांच सौ रुपये प्राप्त करने के बहाने उसके पास संभोग करने के लिए आई। राजनाथ दुविधा में पड़े कि वह क्या करे। अन्त में उनका नैतिक बल उन पर हावी हो गया और उन्होंने श्यामली का प्रस्ताव ठुकराया। श्यामली ही राजनाथ को सूचित करती है कि किस होटल में ठहर कर उर्मिला वेश्यावृत्ति करती है। वे सीधे उस होटल में जाकर उर्मिला को अपने साथ लाते हैं। वे उर्मिला पर गुस्सा नहीं करते, कोई बात नहीं पूछते कि वह इतने वर्षों तक कहां ठहरी, क्यों ठहरी और क्या करती रही। इसका कारण यह है कि राजनाथ को, "मुड़कर अतीत की ओर देखने का अवकाश कहां मिलता है।"[1] या, "राजनाथ ने अतीत पर लोहे का दरवाजा डाल दिया है, दरवाजा बन्द कर दिया है।"[2] उर्मिला को होटल से प्राप्त करके "राजनाथ

---

1. हिन्दी कहानी : अपनी ज़बानी—डॉ० इन्द्रनाथ मदान; पृ० 135।
2. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 356।
3. उपरिवत्; पृ० 360।

को लगा, जैसे आज ही वे दोनों शादी के 'रजिस्ट्रार' दफ़्तर से लौटे हैं, और जैसे कल ही शाम को घर में दोस्तों को दावत दी जाने वाली है।"[1] उधर उर्मिला है जो, "चाहती है कि उसके पाप में, उसके अपराध में, उसकी पीड़ा में, उसके पश्चाताप में, उसके चले जाने में, और उसकी वापसी में, राजनाथ हिस्सा बटाए।"[2] कहानी के अन्त में उर्मिला इस बात का उद्घाटन करती है कि उसने होटल में एक बच्ची को भी जन्म दिया है जो कि किसी बोर्डिंग स्कूल में पढ़ती है। गुस्से के घूंट पीकर, राजनाथ अन्त में परिस्थितियों से समझौता करके उस बच्ची की देख-रेख भी करते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत कहानी अनेक स्तरों पर चलती है। ये सारे स्तर एक ही दृष्टि को ध्यान में रखकर लिए गए हैं—दाम्पत्य जीवन की शान्ति और अशान्ति का प्रश्न उठाना। इन स्तरों को अलग-अलग चलाकर कहानी की रचना-प्रक्रिया में दरारें डाल दी गई हैं। यह कहानी श्यामली के प्रसंग के बिना भी चल सकती थी। फ़्लैश-बैक के माध्यम से उर्मिला तथा राजनाथ का जो व्यतीत दाम्पत्य-जीवन दिखाया गया है, उससे भी कहानी में अनावश्यक विस्तार आया है। इस तरह यह कहानी किस्सागोईपन के आरोप से बच नहीं पाती। कहानी का अधिकांश भाग दाम्पत्य-जीवन की अशान्ति, राजनाथ की दुविधा तथा तनावपूर्ण स्थिति से गुज़रता है, जो कि स्वाभाविक है, किन्तु जिस हिसाब से कहानी का श्रेयस्कर अन्त किया गया है, वह इसकी रचना-प्रक्रिया पर आरोपित-सा लगता है। कहानी के कई युग-व्यापी संकेत भी आरोपित-से लगते हैं।

अपनी कई दुर्बलताओं के बावजूद प्रस्तुत कहानी के महत्व को अस्वीकारा नहीं जा सकता। इसमें स्थान-स्थान पर अस्तित्ववादी चिन्तन के संकेत मिलते हैं। राजनाथ को जब अपने अतीत की ओर देखने का अवसर नहीं मिलता या उन्होंने अतीत का दरवाज़ा बन्द किया है, वे सचेतन मनुष्य की ही तरह सोचते-समझते हैं। कहानी का एक स्थल इस प्रकार है, "(राजनाथ की) गाड़ी बहुत तेज़ भाग रही थी, और पिछले सात वर्षों का समय बहुत पीछे छूटा जा रहा था।"[3] समय की द्रुतगति से पीछे छूट जाना शाश्वत सत्य है, किन्तु यहां यह सत्य युग-सापेक्ष है। आज की दुनिया में कई लोग वर्तमान क्षण में ही जीने का प्रयत्न करते हैं। जो क्षण उनसे चला जाता है, वह अतीत का अभिन्न

---

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 357।
2. उपरिवत्; पृ० 360।
3. उपरिवत्; पृ० 366।

भाग बन जाता है। इसलिए व्यतीत के लिए माथा-पची करना व्यर्थ है, क्योंकि जो चला जाता है, वह फिर लौटता नहीं। अस्तित्ववादी मान्यताओं से प्रभावित राजनाथ पिछला सब कुछ भूलने का प्रयत्न करते दिखाए गए हैं। उधर उर्मिला का व्यवहार भी आधुनिक है। अपने पति के साहचर्य में वह पति की है, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में वह 'पत्नी' पत्नी नहीं रहती। इस प्रकार यह कहानी युग के चिन्तन की ओर भी संकेत करती है।

कहानी में कई व्यापक संकेत भी हैं जो कि इसको राजनाथ-उर्मिला की कहानी की परिधि से निकालकर युग की व्यापक कहानी बनाते हैं। कुल मिलाकर 'दाम्पत्य' युग-बोध पर आधारित कहानी है। कई दुर्बलताओं को छोड़कर इसकी भी अपनी विशेषताएं हैं तथा 'नई कहानी' की पहचान करवाने में सक्षम है।

(13) 'नौ साल छोटी पत्नी' : रवीन्द्र कालिया

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी सतत् प्रक्रियावान रही है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया का परिचय विशेष रूप से हमें साठोत्तरी कहानी-लेखकों की रचनाओं में मिलता है। ये कहानीकार जीवन के यथार्थ को रू-ब-रू देखने के लिए अधीर से दिखाई देते हैं। रवीन्द्र कालिया की कहानी 'नौ साल छोटी पत्नी' के बारे में उपरोक्त कथन अक्षरश: सत्य दिखाई देता है। इस कहानी का सृजन स्त्री-पुरुष के बदलते सम्बन्धों को लेकर हुआ है। यों तो व्यतीत दशक की रचनाओं में भी स्त्री-पुरुष के बदलते रूपों को दिखाया गया है, किन्तु वे कहानियां चिन्तन के धरातल पर अधिक एवं रचनात्मक स्तर पर कम चली हैं। परिणामस्वरूप वहां लेखक का हस्तक्षेप अधिक रहा है। साठोत्तरी रचना 'नौ साल छोटी पत्नी' सृजनात्मक अधिक है, इसलिए इसे एक अनुभूतिपरक प्रामाणिक कहानी माना जा सकता है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों में तटस्थता आई है और यह तटस्थता आद्योपान्त कहानी पर छाई हुई है। तीस वर्षीय कुशल अपने मामूल के समय से पूर्व ही घर लौटकर अपनी इक्कीस वर्षीय पत्नी तृप्ता को चौंकाना चाहता है। तृप्ता उसको देखकर सचमुच चौंक गई। उसने कुशल को देखते ही काग़ज़ों का वह पुलंदा ट्रंक में छिपा दिया, जिसे वह दीवार से पीठ टिकाये सिर हिला-हिलाकर बड़ी एकाग्रता से पढ़ रही थी। वास्तव में तृप्ता उन प्रेम-पत्रों को पढ़ रही थी, जो कि अब तक सोम (तृप्ता की बुआ का लड़का) ने उसको भेजे थे। तृप्ता ट्रंक को खाट के नीचे सरकाकर कुशल की ओर देखकर उसकी कुशल पूछती है और घर जल्दी आने का कारण भी जानना चाहती है। कुशल को

सारी स्थिति भांप लेने में देर नहीं लगती। जिस प्रकार तृप्ता अपने पति के सामने बनने का नाटक करती है, उसी तरह कुशल भी बनने का ढोंग करता है। वह तृप्ता से पूछता है कि क्या वह कहानी लिख रही थी, यह जानकर भी कि वह कहानी नहीं, प्रेम-पत्र पढ़ रही थी। वह उसकी पीठ थपथपाकर यह भी कहता है कि कहानियां निरन्तर लिखने पर एक रोज़ महान् कहानी-लेखिका हो जाएगी। उधर तृप्ता कुशल से मामूल से अधिक प्यार करती हुई दिखाई देती है। बात में से बात निकलती है और सोम की चर्चा भी आ जाती है। कुशल कहता है कि तृप्ता के ब्याह में सबसे अलग-थलग खड़ा जिस ढंग से वह रो रहा था, उससे यह अनुमान लगाया जा सकता था कि वह ज़रूर मेरा रक़ीब होगा। पूछे जाने पर रक़ीब का अर्थ 'बुआ का लड़का' बताता है। बातों में ही तृप्ता अपनी प्रेम की कहानी एक सहेली की कहानी के माध्यम से कहती रहती है। कुशल का बनना तृप्ता को ज्यादा देर तक धोखे में नहीं रखता है जबकि वह कल्पित प्रेमिका का पुराना किस्सा छेड़ देता है। वह बाहर जाकर पनवाड़ी से सिगरेट का पैकट लाकर तथा चाय पीकर जब घर लौटता है तब देखता है कि तृप्ता खाट पर औंधी लेटी है और "वे काग़ज़ (प्रेम-पत्र) सूखे पत्तों की तरह इधर-उधर उड़ रहे थे।"

यह कहानी जहां एक ओर स्त्री-पुरुष के बदलते रिश्तों को अनुभव के धरातल पर दिखाती है, वहां दूसरी ओर यहां भावुकता से छुटकारा पाने की भी कोशिश की गई है। तृप्ता इक्कीस वर्षीय पत्नी है। इससे पहले ही उसने सोम से प्रेम-व्यवहार किया होगा। छोटी तथा अपरिपक्कव आयु में किया गया प्रेम पूरी तरह निभ नहीं पाता। यही हाल तृप्ता तथा सोम के बीच हुआ है। उधर कुशल तीस वर्ष का परिपक्कव पुरुष है। वह यथास्थिति के बहुत समीप दिखाई देता है। उसके द्वारा भावुक बना नहीं जा सकता। इस-लिए सिगरेट के कश खींचकर भावुक बनने का प्रयत्न करता है। दूसरी ओर सोम है, जिसकी शक्ल को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह भावुक होगा। इस प्रकार कहानी में भावुकता से छुटकारा पाने की जो कोशिश है, वह इतनी सहज नहीं दिखाई देती।

कथ्य के लिहाज़ से यह 'अकहानी' के समीप ठहरती है। मगर यह कहानी अन्य कई अकहानियों की तरह इस बात की अपवाद है कि अ-कहानी संकेत, प्रतीक, बिम्ब आदि से मुक्त शिल्पहीन शिल्प की कहानी है। कहानी में एक स्थल पर नल से टब में पानी गिरने की आवाज़ उभारी गई है, गली में शोर कर रहे बच्चों की आवाज को भी कहानी में सुना जा सकता है आदि,

किन्तु कुशल एवं तृप्ता के जीवन में सन्नाटा छाया हुआ है, भले ही उनके पारस्परिक वार्तालाप सरस हों। कहानी के अन्त में एक स्थल इस प्रकार है, "स्टोव पर पानी उबल रहा था और जले हुए कागज के पुर्जे सूखे और भटके पत्तों की तरह कमरे में इधर-उधर उड़ रहे थे। कुछ कागज़ स्टोव पर रखे पानी में तैर रहे थे।"[1] यहां स्टाव पर पानी उबलने का संकेत तृप्ता की भावनाओं की ओर है। उबले पानी की तरह उसकी भावनाएं उबल तो रही हैं, किन्तु जले काग़ज़ों की तरह उनका अस्तित्व कुछ नहीं है। इन संकेतों के बावजूद यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ये कहानी की रचना-प्रक्रिया पर आरोपित न होकर उसके आन्तरिक रचाव की उपज है। इस प्रकार कहानी में यथार्थ को पहचान कर उसको पकड़ने की भी कोशिश की गयी है।

उपरोक्त कथन से इस बात की ज़ोरदार पुष्टि होती है कि कहानी के लिए अब पूर्व-निर्धारित ढांचा एवं सांचा बनाए रखना सम्भव नहीं है। कहानी चाहे 'नयी कहानी' हो या आंचलिक कहानी हो, अकहानी हो या सचेतन कहानी हो, उसको सीमित कठघरों में विभाजित करके देखा नहीं जा सकता। वह अन्ततः कहानी है—नये भाव-बोध एवं शिल्प बोध की कहानी।

(14) 'शव यात्रा' : श्रीकांत वर्मा

'नई कहानी' के रचनाकारों ने हमें ऐसे पात्रों से भी परिचय कराया है जो समाज में तन तथा मन दोनों दृष्टियों से उपेक्षित हैं। उपेक्षा का यह भाव उनमें हीन-ग्रन्थियों को जन्म देता है। इसके बावजूद जब भी उन्हें अपने व्यक्तित्व को उभारने का अवसर मिलता है, वे उसे चूकने नहीं देते हैं। श्रीकांत वर्मा की कहानी 'शव यात्रा' लगभग इसी थीम पर आधारित है।

प्रस्तुत कहानी में एक लावारिस रंडी (इमरती) अपनी तंग कोठरी में दम तोड़ चुकी है। उसको दफ़नाने के लिए कोई सामने नहीं आता है। पुलिस वाले के कहने पर बन्सीलाल नामक एक गाड़ीवाला उसको उठाने के लिए तैयार हो जाता है। यह वही बंसीलाल है जिसने बार-बार इमरती से संभोग करने की कोशिश की, किन्तु फ़ीस के पूरे पैसे न जुड़ने के कारण वह इमरती के पास न जा सका। यह वही बंसीलाल है जो शरीर से भद्दा तथा कद का छोटा है। इमरती की लाश को मरघट पर ले जाने के सिलसिले में वह पूरे जोश के साथ अपनी गंदी गाड़ी साफ करता है। आखिर बंसीलाल को इमरती

1. नौ साल छोटी पत्नी : रवीन्द्र कालिया, दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 355।

से मिलने का अवसर मिला या कहें उस पर अधिकार जमाने का समय मिला, उसके मरने के बाद।

वह इमरती की लाश को बड़े गर्व के साथ-ही-साथ सलीके से उसको संभाल कर गाड़ी में रख देता है। जहां उसकी गाड़ी शहर तथा लोगों से दूर निकल आ जाती है, वह बड़े चाव से मुड़-मुड़कर देखता है कि आया शव ठीक दशा में है। एक स्थान पर गाड़ी रोककर शव पर अच्छी तरह से कपड़ा ढांपता है, क्योंकि गाड़ी के हिचकोलों से वह लाश नंगी हुई थी। जैसे ही वह मरघट पर पहुंचता है, उसको मरघट के चौकीदार को यह कहने में कोई हिचक महसूस नहीं होती कि मैं ही इमरती का पति हूं। इस प्रकार कहानी का मर्म यह है कि जिस उपेक्षित व्यक्ति को अपनी इच्छाओं को पूरा करने का अवसर नहीं मिलता, वह किसी-न-किसी रूप में उन्हें पूरा करने की कोशिश करता है। कहानी का स्वर यह भी हो सकता है कि मनुष्य जिस क्षण में जी रहा है, वही उसके लिए स्थायी एवं सत्य बनता है। बंसीलाल यहां व्यतीत इमरती को भूलकर (कि वह उससे संभोग न कर सका आदि) अब उसका पति एवं मालिक बनने का प्रयत्न करता है। वे हीन, कुंठित इच्छाएं जो बंसीलाल इमरती के जीवन-काल में पूरी न कर सका, उसके मरने के बाद उदात्त बन जाती हैं। इस प्रकार 'शव यात्रा' में शव को दफ़नाने की ही यात्रा नहीं, बल्कि बर्बरता तथा हैवानियत को दफ़नाने की भी यात्रा है।

कहानी का प्रथम वाक्य 'केवल एक खाट रखने की जगह थी'[1] ही न केवल इमरती के सम्पूर्ण कमरे की स्थिति बताता है, बल्कि कहानी का संकेत भी यहीं से शुरू होता है। कहानीकार ने इसमें किसी प्रकार के 'क्लाइ-मेक्स' को स्थान नहीं दिया है, इसलिए यहां किसी प्रकार का औत्सुक्य नहीं रहता है। शव की यात्रा के साथ-साथ बंसीलाल के मन की यात्रा भी कहानी में है जो कि अन्त में चरमसीमा पर पहुंचती है। ऐसा लगता है कि बंसीलाल की हैवानियत अन्त में सही मानव-रूप धारण कर लेती है। यह बात कहानी की रचना-प्रक्रिया पर आरोपित न होकर इसकी अभिन्न अंग बन जाती है। इसके अतिरिक्त व्यतीत दशक की कहानीकारों की तरह इसमें 'किस्सागोईपन' नहीं है। अतः यह कहानी अनावश्यक विस्तार से बची है।

प्रस्तुत कहानी की कई सीमाएं भी हैं। उदाहरणार्थ कहानी आरम्भ होने के बाद कहानीकार ने पुलिस वाले का कई लोगों के साथ जो वार्तालाप दिखाया है, वह अनावश्यक-सा लगता है। इसके बिना भी कहानी चल

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ॰ 416।

सकती थी। आगे कहानी के कई स्थल इसकी रचना-प्रक्रिया पर आरोपित-से लगते हैं। बन्सीलाल की गाड़ी के गिर्द लोगों का जमा होना, 'राम नाम सत्त है', 'सबकी यही गत्त है' जैसे कथन, किसी भिखारी का शव पर फूल बिखेरना आदि—ये स्थल कहानी के न होकर इसकी रचना-प्रक्रिया पर आरोपित-से लगते हैं। इससे कहानी की रचना-प्रक्रिया पर कुछ हद तक तनाव-सा आया है। संभवतः कहानीकार ने साधुओं तथा भिखारियों को यहां इसलिए घसीटा है ताकि यह कहानी व्यक्तिगत-मूल्यों की कहानी न रहकर समष्टिगत-मूल्यों की कहानी बने। परन्तु वास्तविकता यह है कि वैयक्तिक कहानी होकर भी इसमें युग-व्यापी संकेत तब भी बने रहते।

(15) "सेब" : रघुवीर सहाय

प्रस्तुत कहानी में एक छोटी घटना घटती है। कथावाचक को किसी सड़क के किनारे टूटे से परेम्बुलेटर में बैठी बीमार-सी लड़की दिखाई दी जिसके हाथ में एक छोटा-सा लाल सेब दिखाई पड़ गया और कथावाचक एकदम 'हक' से वहीं खड़ा रह गया। कहानी की यही घटना है और कथावाचक का सेब को देखकर वहीं रुक जाना स्पष्ट करता है कि सहसा कहानीकार को कोई नया सत्य झलक गया है। उस लड़की के कमज़ोर शरीर को देखकर कथावाचक को उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई। गाड़ी की एक ढिबरी ढूंढ़ने में व्यस्त, उस लड़की का पिता कथावाचक को कहता है कि वह बीमार थी और इसीलिए कमज़ोर दिखाई देती है। कथावाचक भी उसको मौखिक सहानुभूति देता है कि वह अवश्य ठीक हो जाएगी। आगे "लड़की ने अपने सेब की तरफ़ देखा, पूछा, "बप्पा ?" बाप ने बड़े प्यार से मना कर दिया। बीमार लड़की धैर्य से अपने सेब को पकड़े रही। उसने खाने के लिए ज़िद नहीं की।"[1]

इस प्रकार यह साधारण-सी घटना भी अर्थपूर्ण होने की ओर संकेत करती है। प्रश्न यह नहीं कि घटना छोटी हो या बड़ी, किन्तु बात यह है कि वह कितनी अर्थपूर्ण है। उस कमज़ोर लड़की को देखकर, सम्भव है, कथावाचक को कोई अपना दर्द कुरेद गया हो और जो कि उसको सालता-कचोटता हो। इस संदर्भ में कहानी की ये पंक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं, "वह बहुत दुबली थी, छोटी-सी, और सांवली थी, एक नए प्रकार का सौन्दर्य उसमें था, वह जो कष्ट उठाने से आता है।"[2]

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 445।
2. उपरिवत्; पृ० 444।

यह कहानी रूढ़ अर्थों में कहानी नहीं कहलायी जा सकती। इसमें केवल एक घटना है जिसका न आरम्भ है, न मध्य और न ही अन्त। स्वयं रघुवीर सहाय का कथन है कि कहानी का, "आरम्भ होता है, मध्य भी और अन्त भी, परन्तु उसके बीच केवल एक घटना होती है और मुझे तो केवल घटना का वर्णन करना है, केवल यह बताना है कि जब दो व्यक्तियों, दो मानवों के बीच एक सम्बन्ध टूटा और दूसरा बना तो उसमें क्या कहानी पैदा हो गई।"[1] कहानी की घटना यथार्थ है, जिसमें अतिरंजित करने वाली कोई बात नहीं कही गई है। इसके न होने से यह सहज ही व्यतीत कहानी से अलग की जा सकती है। रघुवीर सहाय की मिनी कहानियों की राह से गुज़र कर डा० नामवर सिंह कहते हैं कि ऐसी कहानियों में, "मुख्य प्रश्न तो अर्थ है : घटना का अर्थ, अनुभव का अर्थ, किसी के जीवन से निकले हुए मामूली से एक शब्द का अर्थ, किसी के चेहरे पर उभरी हुई एक हल्की-सी रेखा का अर्थ ! हो सकता है कि इन संकेतों में कोई गूढ़ कहानी छिपी हुई हो। घटनाओं की भीड़-भाड़ में ये छोटे-छोटे संकेत प्राय: बड़े संकेत को प्रकट कर देते हैं। जैसे घुप्प अंधकार में सहसा जुगनू की चमक !"[2]

यह कहानी शिल्प-वैशिष्ट्य (बिम्ब, प्रतीक आदि) से पूर्णत: मुक्त है। इस प्रकार की कहानी से गुज़रकर यह परिणाम निकलता है कि कहानी का न अथ है, न इति; वह जीवन की एक फांक है।

(16) **"शेष होते हुए" : ज्ञानरंजन** (परिवार तथा नैतिक-बोध का विघटन)

नई कहानी का एक स्वर परिवार के विघटन तथा ह्रास का भी है। परिवार वह संस्था है, जहां कि माता-पिता तथा उनके बच्चे एक सूत्र में बंधे रहते आए हैं। इसका महत्व भारत के लिए और ज़्यादा रहा है, जहां कि इसे संयुक्त परिवार के नाम से जाना जाता है। मगर स्वातंत्र्योत्तर काल में सम-सामयिक परिस्थितियों के दबाव के कारण इसका महत्व कम होता गया तथा इसकी एकता 'अनेकता' में बिखर गई। आधुनिक कहानीकारों ने भी इस बदलती स्थिति का अनुभव किया तथा उसका चित्रण बहुत बारीकी से अपनी कहानियों में किया। अब परिवार (भारतीय संदर्भ में संयुक्त परिवार) देखने-दिखावे के लिए हैं, जबकि अन्दर से वे खोखले होते जा रहे हैं।"

ज्ञानरंजन की कहानी 'शेष होते हुए' परिवार के विघटन तथा स्थापित नैतिक-बोध के ह्रास की कहानी है। कहानी का नायक 'मझला' एक स्कूल

---

1. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवरसिंह; पृ० 130।
2. उपरिवत्; पृ० 127।

का अध्यापक है जो कि ग्रीष्मावकाश व्यतीत करने के लिए अपने घर आता है। मझला ने मन-ही-मन जिस बदलते घर की कल्पना की है, लगभग उसको वैसा ही घर तथा वैसे ही सदस्य वहां मिलते हैं। उसके मां-बाप में मध्य-वर्गीय संस्कार जमे हुए हैं। मां बड़ी बेरुखी से उसका आवभगत करती है। उसी प्रकार मझले के पिता में भी उसके आने पर कोई उत्साह नहीं है। घर के सदस्यों के बोलचाल में कोई भाव नहीं। वे बोलते हैं, इसलिए कि एक कर्त्तव्य निभाया जाता है—बोलना एक विवशता है, शिष्टाचार है। उनकी अभिव्यक्ति में कोई लगाव नहीं, केवल तटस्थता है। इससे मझले के मन में विसंगति का बोध होता है। उसे अपना घर पराया-सा लगता है। वह एकाकी-पन, परायापन, शून्यता जैसे भावों का अनुभव अपने ही घर में करने लगता है।

प्रस्तुत कहानी की रचना-प्रक्रिया दूसरे स्तर पर भी चलती है और वह है—परिवार जैसी संस्था की असारता तथा उसका विघटन। कहानी का एक स्थल इस प्रकार है, "एक ही घर में कई घर हो गए हैं। हर व्यक्ति के कमरे में दूसरे से अलग एक स्वतंत्र और पृथक्ता ज्ञापित करने वाला स्वभाव है। निजी व्यवस्था की प्रवृत्ति कुछ लोगों में छोटे पैमाने पर अन्दर-ही-अन्दर प्रयत्नशील हैं।"[1] कहानीकार का यह कथन दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक ही घर का एक-एक कमरा अलग घर बना हुआ है। उदाहरणार्थ मझले के 'बाबा' का कमरा कबाड़खाना बना है, जबकि भैया-भाभी के कमरे में दैनिक उपयोग में आने वाली सबसे नयी, सुन्दर तथा फ़ैशनेबुल चीजें हैं। तारा के कमरे में "अपना आयरन, अपनी सुराही, यहां तक अपने कमरे को साफ़ करने के लिए एक अलग झाड़ू है।"[2] उधर मां-बाप के कमरे में कुछ नहीं है। "उनके लिए किसी को फुरसत नहीं।"[3] इस प्रकार देखने-दिखावे के लिए एक मकान तथा उसके सदस्य हैं, किन्तु यह एक कृत्रिम सेट सरीखा लग रहा है। यही कारण है कि मझले को अपना घर 'नकली जगह सी' लगी। इस प्रकार मझले का, "घर अन्दर-ही-अन्दर खंडित हो रहा है।"[4] यह सब देखकर मझला मोहभंग की स्थिति का अनुभव करता है।

---

1. नयी कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 432।
2. उपरिवत; पृ० 433।
3. उपरिवत्; पृ० 433।
4. उपरिवत्; 441।

कहानी का शीर्षक तथा आरम्भ ही सम्पूर्ण कहानी के मर्म की ओर संकेत करते हैं। परिवार का 'शेष होते हुए' भी वह अब कुचल-रोंद छोड़ने के लिए ड़ी है। यह उन लोगों का प्रतीक है जो अभी संक्रान्ति के दौर से गुजर रहे हैं। परिवार के लोगों का यह 'बिखराव' व 'टूटन' अपने अंजाम की तरफ़ केवल एक शुरूआत है। इस तरह कहानी का शीर्षक, आरम्भ तथा अन्त एक दूसरे के पूरक हैं। इसमें संवादों का बहुत कम प्रयोग हुआ है। कहानी का अधिकांश कथन सृजनात्मक न होकर वर्णनात्मक है। यहां जिन संकेतों तथा प्रतीकों का प्रयोग किया गया है, वे इसको एक परिवार की ही कहानी न बनाकर सम्पूर्ण ज़माने की कहानी बनाते हैं। ज्ञानरंजन जब कहते हैं, "पुरातन शिलालेखों के समक्ष, उसकी लिपि से अज्ञात दर्शक की जो स्थिति होती है वैसी ही मझले को अपने घर के लोगों में हो गयी है।"[1] — वे एक युग-सत्य की ओर संकेत करते हैं। मझले को अपने घर के सदस्यों में जिस एकाकीपन तथा विसंगति का अनुभव हो रहा है, वह आरोपित न होकर कहानी के सृजनात्मक स्तर पर हुआ है। आगे कहानीकार जब कहते हैं कि 'पिता से टीनू तक सब अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिये वर्तमान की स्थितियां झेल रहे हैं,"[2] वे चिंतन की दिशा का एक और आयाम खोल देते हैं। मझले की तरह अभी हम संक्रान्ति के बोध से गुजर रहे हैं। इसकी समाप्ति पर नये आयाम स्पष्ट रूप से हमारे सामने आयेंगे। ज्ञानरंजन अन्त में इसी बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते दिखाई देते हैं।[3]

कहानी की अपनी सीमायें भी हैं। चूंकि परिवार के पारस्परिक संबन्धों को दिखाने के लिये यह कई स्तरों पर चलाई गई है, इसलिये कहानी के सृजन में छोटी-छोटी दरारें आ पड़ी है। कहानीकार ने अधिक-से-अधिक बातें अपनी ओर से कही हैं, सृजनात्मक स्तर पर कम; इसलिए कई कथन अनावश्यक तथा आरोपित लगते हैं। इस आरोप से बचने के लिये कहानीकार बड़ी सुगमता से आत्मकथात्मक शैली प्रयोग कर सकते थे। कहानी का अन्तिम चरण अनावश्यक प्रतीत होता है। इसके बिना भी यह पूर्ण कहानी हो सकती थी। यदि इसका अन्त इन्हीं शब्दों में होता तो यह इसका पूर्ण तथा सशक्त अन्त माना जा सकता था, "मां तारा को 'अब कब आओगे' पूछने के

---

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 436।
2. उपरिवत्; पृ० 436।
3. "घर अन्दर-ही-अन्दर खंडित हो रहा है। मझले के पिता-मां को कुछ समझ नहीं आ रहा होगा। उनकी आंखों के सामने इतिहास की अनिच्छुक

लिए ढकेल-सी रही है। पता नहीं क्यों तारा के मुंह से कुछ निकल नहीं पा रहा है। शायद वह प्रयत्न कर रही है। रिक्शा सबकी दृष्टि से ओझल हो गया।''[1]

(17) ''सुख'' : काशीनाथ सिंह

'सुख' साठोत्तरी पीढ़ी के सशक्त कथाकार काशीनाथ सिंह की एक कहानी है। प्रस्तुत कहानी का स्वर यह है कि जब एक व्यक्ति के मानसिक संदर्भ दूसरे से जुड़ते नहीं दिखाई देते हैं, तब वह अपने आपको शेष प्रकृति से कटकर बिलकुल नंगा एवं अकेला अनुभव करता है। यही हाल प्रस्तुत कहानी के नायक 'भोला बाबू' का है। एक रोज़ उसको अस्त हो रहा सूर्य बहुत ही भला लगा। वह इस क्षणिक अनुभूति की अभिव्यक्ति करने के लिए अधीर हो उठा। इसलिए अपनी पत्नी को बुलाकर उसने कहा कि वह सूर्य की ओर देखे। उसका साहस ठंडा हो गया जबकि उसकी पत्नी से उसकी अनुभूति में कोई योगदान नहीं मिला, बल्कि ठेस ही पहुंची। भोला बाबू के कहने पर कि वह उधर दूर ताड़ों के पीछे (सूर्य की ओर) देखे, वह सूर्य की ओर नहीं, ईंटों से लदे खच्चरों की पांत तथा उनके पीछे चलते आदमियों को देखती है। पत्नी से निराश होकर वह राह से चलते हुए एक ऊंट वाले का ध्यान भी सूर्य की ओर आकर्षित करता है, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया भी निषेधात्मक ही होती है। भोला बाबू से रहा नहीं जाता। वह दौड़ते हुए गांव के जाने-माने ज़िलेदार साहब के पास जाकर यही बात कहता है कि क्या उन्होंने आज अस्त होते हुए सूर्य की ओर देखा तो उनका उत्तर भी भोला बाबू को कोई सांत्वना नहीं देता और वहां से निराश होकर ही लौटता है। आगे अपने दफ्तर के सोहन नामक एक व्यक्ति से भी इस बात की चर्चा की, किन्तु उसने भी उसको निराश किया। अन्त में वह घर जाकर अपनी पत्नी तथा बच्चों को बुलाकर कहता है, ''देखो, कहने को यह बीवी है। यह बेटा है। यह बेटी है। यह मकान है। यह जायदाद है। ये नातेदार हैं। लेकिन सच पूछो कोई किसी का

स्थितियां बेरहमी से गुज़र रही हैं। अपने खचाखच कम्पार्टमेंट में मझला भी समय की क्रूरता और निरंकुशता को तीव्रता से महसूस कर रहा है। अगली बार मझला घर आएगा तब काल उसके सामने कुछ और बिगड़े हुए तथा कठोर दृश्य उपस्थित करेगा। क्योंकि अभी लोग पूरी तरह टूटे और बिखरे नहीं हैं।''
—नयी कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 441।

1. उपरिवत्; पृ० 442।

नहीं।"[1] भोला बाबू के इन निराशापूर्ण शब्दों से उसकी पत्नी की आंखें छल-छलाई। बाद में भोला बाबू का स्वर भी भर्रा आया। उन्हें इस दशा में देखकर बच्चे भी रोने लगे।

प्रस्तुत कहानी के माध्यम से हमें यह संकेत मिलता है कि भोला बाबू की अपनी अनुभूति अन्त में फैंटेसी में परिवर्तित हो जाती है। भोला आजीवन कागज़ी फाइलों के चक्कर में रहा। जब अचानक प्रकृति को देखने का अवसर मिला, तो सचमुच प्रकृति भी अज़ीब-सी लगी। जब अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति करने लगा, तो वहां अपने आपको अनाम तथा अरूप महसूस करने लगा। नतीजा यह हुआ कि अपनी अनुभूति तक भी उसके लिए अबूझ तथा रहस्यपूर्ण लगने लगी। उसका भाव-लोक किसी भयानक कल्पना-स्वप्न में बदल गया।

यह कहानी कथ्य के लिहाज़ से अकहानी के समीप ठहरती है, किन्तु इसमें अकहानी की पूर्व-निर्धारित शर्तों को पूरी तरह नही निभाया गया है। अकहानीकारों का दावा है कि उनकी कहानी शिल्प-वैशिष्ट्य के आग्रह से मुक्त है, किन्तु प्रस्तुत कहानी में स्थान-स्थान पर संकेतों आदि से काम लिया गया है। प्रस्तुत कहानी का एक स्थल इस प्रकार है, "सूरज पहाड़ी के पीछे कहीं चला गया है और वह किरण उनके सिर पर ज्यों-की-त्यों रखी है।"[2] यहां कहानीकार यह संकेत देते हैं कि सूर्यास्त होने पर भी उसकी धुन भोला के सिर पर सवार है। कहना न होगा कि अकथावादी रवीन्द्र कालिया की कहानी 'नौ साल छोटी पत्नी' भी संकेतों, प्रतीकों आदि से मुक्त नहीं रही है। इससे हमारी इस धारणा की पुष्टि होती है कि आज की कहानी लिखने के लिए कोई पूर्व-निश्चित चौखटा नहीं बनाया जा सकता। इस सिद्धांत पर चलने वाले कहानीकारों को भी अन्त में इसका अतिक्रमण करना पड़ा है। हां यह ज़रूर है कि 'अकहानी' नयी कहानी की तरह शिल्पगत प्रयोगों से दब नहीं गई है।

प्रस्तुत कहानी का सृजन एक अर्थ में कुछ आरोपित-सा लगता है। भोला बाबू का अस्त होते हुए सूर्य को देखकर उसके सम्प्रभाव पत्नी से कहना, फिर राहगीर से बात करना, उसके बाद ज़िलेदार साहब के पास जाना आदि, कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। सम्भवतः फैंटेसी का रूप देने के कारण ऐसा हो पाया है। किन्तु अन्त में यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि अपने

---

1. लोग बिस्तरों पर : काशीनाथ सिंह; पृ० 64।
2. उपरिवत्; पृ० 55।

'फ़ील' (आशय) को प्रकट करने के लिए और उसको प्रेषणीय बनाने के लिए जिन उचित तथा उपयुक्त शब्दों की आवश्यकता होती है, यह कहानी उसके लिए उद्धृत की जा सकती है। इस कहानी की भाषा सच्चाई तथा असलियत की भाषा है। यह शिल्प कहानी के अन्दर इतना चला है कि उसे देखा नहीं जा सकता, सिर्फ अनुभव किया जा सकता है।

(18) "आइसबर्ग" : दूधनाथ सिंह (अवसाद, विषाद, अकेलेपन तथा खालीपन की कहानी)

प्रस्तुत कहानी एक ऐसे व्यक्ति के बिम्ब प्रस्तुत करती है जो बाहर से शीत तथा भीतर से ऊष्ण है। वह अवसाद, विषाद, अकेलेपन तथा खालीपन की स्थितियों को झेलने के लिए अभिशप्त-सा है। इसकी अभिव्यक्ति एक स्तर पर नहीं, अनेक स्तरों पर चलती है। कहानी का एक स्तर विनय और चित्रा (पति-पत्नी) के विच्छेद पर चलता है। इसका कारण चित्रा के विवाह के पहले उसका 'रोमांटिक' जीवन था, जिससे विनय विवाह से पूर्व वंचित था और जिसे चित्रा ने सहज भाव से पहली रात स्वीकार किया था।[1] बाद में उसकी आत्महत्या से विनय बिल्कुल अकेला हो गया और वह अपने परिवार से भी दूर हो गया।

अकेलेपन के इन क्षणों को पाटने के लिए विनय अपने सगे-सम्बन्धियों (दद्दा, जगत, सुबोध, बेबी आदि) को अपने यहां बुलाता है। अपनी बहन बेबी के एक पत्र में वह लिखता है, "बेबी, मैं चाहता हूं कि मुझे भी लगे कि मैं आदमियों के बीच हूं। मेरे भी चारों तरफ लोग हैं, जो मुझे पहचानते हैं। मैं भी किन्हीं से सम्बन्धित हूं। मैं, तुम सबके बीच में अपने को महसूस करना चाहता हूं। बेबी, मुझे बार-बार लगता है कि जीवन मेरी मुट्ठियों से पानी की तरह फिसल गया है।"[2] लेकिन विनय को यह अनुभव होता कि ये रिश्तेदार उस पर अहसान जता रहे हैं। उन्हें अपने खाने और घूमने से ग़रज़ है। उनके वापस चले जाने के बाद विनय को एकाकीपन तथा अजनबीपन का अहसास गहराने लगता है।

कहानी का एक और स्तर विनय-बेबी के पत्र-व्यवहार पर चलता है। बेबी के स्नेह-पत्र विनय को बाहरी और पारिवारिक जीवन से जोड़ने का एक माध्यम हैं।

---

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 172।
2. उपरिवत्; पृ० 160।

कहानी का शीर्षक 'आइसबर्ग' एक प्रतीक के रूप में लिया गया है। विनय बाहर से शीत तथा भीतर से ऊष्ण है। इन विरोधी तत्त्वों के कारण वह टूटकर कहीं दूर जा गिरता है—ठीक आइसबर्ग की तरह। इस तरह शून्यता, अजनबीपन, अकेलापन आदि उसके साथी बन जाते हैं। कहानी का आरम्भ प्रकृति-चित्रण के संकेतों से हुआ है। जिस प्रकार बाहर से धूप का नामोनिशान नहीं है, मैदानों में कोहरा है और दिशाएं साफ-साफ नहीं दिखाई देतीं, उसी प्रकार उसका मन घिरा हुआ है तथा उसकी दिशाएं गुम हैं। बाहर का सन्नाटा तथा ठंडी हवा का सरसराना उसके ही मन का सन्नाटा तथा ठंडापन है। कभी-कभी कोहरे का छंट जाना विनय के मानसिक कोहरे का छंट जाना है, किन्तु यह प्रक्रिया बहुत देर तक नहीं रहती। वह पुन: अपने ही एकान्त में लौटता है। वह न महसूस करते हुए भी घटाटोप के छिन्न-भिन्न हो जाने और तीखी, वीरान रोशनी में अपने को चौंधियाते हुए पाने की कल्पना से सिहर उठता है।[1] अपने सगे-संबंधियों के साहचर्य में, जो कि उसके अतिथि बनकर आये हैं, वह खुलकर बातें नहीं करता है। उसका किसी मामूली बात पर चौंकना या उनसे कोई बात पूछने पर विस्तारपूर्वक उत्तर न देना यह स्पष्ट करता है कि उसके बोलने में विसंगति है। अपने सगे-सम्बन्धियों में वह केवल शारीरिक उपस्थिति ता है, मानसिक नहीं। ठीक है जब दिल ही टूट गया है, भावनाएं लुप्त हुई हैं तब बातें करना भी बेकार है। इसलिए वह अपने एकाकीपन तथा विषाद की ही रक्षा करता है। कहानी का अन्त पूर्व-दीप्ति से होता है। शाम के समय जब विनय अपनी बहन बेबी को रेलवे-स्टेशन पर विदा करने जाता है, लौटते समय उसको सारे वार्तालाप याद आते हैं जो कि पहली ही रात उसके तथा चित्रा (पत्नी) के बीच हुए थे। वे सारी बातें भी उसके मस्तिष्क में गूंजी, जो कि जगत् ने विनय के बारे में पहले कही थीं।[2]

इस प्रकार यह कहानी विनय-चित्रा के स्तर पर, विनय-बेबी के स्तर पर तथा विनय-परिवार के स्तर पर चलती है। कहानी में विनय का परिवार से कट जाने का विस्तृत वर्णन है जो कि कहीं-कहीं अनावश्यक प्रतीत होता है। उसका परिवार के बिखर जाने पर पुरानी बातों को दोहराना एक उदाहरण है। ये स्थल कहानी के सृजन में बाधा डालते हैं। कहानी के ये अलग-अलग

1. नयी कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 163।
2. आइसबर्ग : दूधनाथ सिंह दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 173।

स्तर एक दूसरे को छूते-काटते हैं, जिससे इसमें संश्लिष्टता आ गई है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में "कहानी के मूल स्वर को उसके अपवाद, विषाद और अकेलेपंन की गहनता में सुना जा सकता है, लेकिन झाड़ी के अनावश्यक विवरण इसमें विषम स्वरों को ध्वनित करते हैं।"[1] इसके अतिरिक्त विनय की नैपालिन छोकरी को लेकर उस पर जगत् का लांछन लगाना रचनात्मक स्तर पर अनावश्यक प्रतीत होता है, बल्कि यह स्थिति की जटिलता को ही गहराता है। वास्तविकता यह है कि चित्रा के चले जाने के बाद न वह तन की और न ही मन की भूख को मिटा सका है।

(19) "दुहरी टूटन" : डा० मुहम्मद अयूब खां 'प्रेमी'[2]

'दुहरी टूटन' एक ऐसे भावुक कवि की झांकी प्रस्तुत करती है, जिसने प्रेम की दुनिया तो बसायी किन्तु अन्त में उसको निराशा, व्यथा घुटन एवं टूटन के सिवा कुछ नहीं मिला। 'किरण' नामक लड़की कहानी के कथावाचक (कवि) की प्रेमिका थी। इन्होंने न जाने एक-दूसरे के साहचर्य में प्रेम से परिपूर्ण अनेक क्षण गुज़ारे, जिसका वर्णन कहानी में फ़्लैश-बैक के माध्यम से हुआ है। आधुनिक मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार प्रेम की नींव घृणा है और इसी प्रकार घृणा की नींव प्रेम है। कालान्तर में इनकी प्रेम-लीला ने तनाव का रुख अपनाया और वे एक-दूसरे को जली-कटी बातें सुनाने लगे। परिस्थितियों के दबाव के कारण कथावाचक (प्रेमी) अपनी प्रियतमा से बिछुड़ने के लिए विवश हो गया। इस तनाव तथा विच्छेद ने ही उन्हें आजीवन एक-दूसरे से अलग कर दिया, जबकि कथावाचक को मालूम हुआ कि किरण की शादी किसी सुशील बड़े ऑफिसर से होने वाली है। कथावाचक को यह बात सुनकर कितनी चोट पहुंची होगी, इसका वर्णन कहानीकार ने करना मुनासिब नहीं समझा है, जो कि ठीक है। यदि इस आन्तरिक व्यथा को कहानीकार उकेरते, तब कहानी में एकरसता नहीं आ जाती। कहानी में विवाह, रोमांस आदि का वर्णन फ़्लैश-बैक के माध्यम से हुआ है। इनके चित्र कथावाचक के तब सामने आने लगते हैं, जबकि उसको अपनी भूतपूर्व विवाहिता प्रेमिका का सारगर्भित पत्र मिला जिसमें किरण ने अपने भूतपूर्व प्रेमी को एक कमज़ोर आदमी तथा पति को देवता घोषित किया है। उसने पत्र में ईश्वर से यह भी

1. हिन्दी कहानी : अपनी जबानी; पृ० 156।
2. जम्मू-कश्मीर के प्रतिनिधि कहानीकारों की विशेष जानकारी के लिए दे० हमारी पुस्तक "जम्मू-कश्मीर का कथांचल", प्रकाशक—एस० चंद एंड कम्पनी, नई दिल्ली।

प्रार्थना की है कि दूसरे जन्म में वह पति को प्रियतम के रूप में तथा कथा-वाचक (प्रेमी) को पति के रूप में पाए। वास्तव में यह कहानी उसी क्षण की अनुभूति को दिखाती है, जब कथावाचक इस पत्र की राह से गुज़रता है। वह पत्र के अर्थ को बार-बार निचोड़ने पर भी मरोड़ने लगता है। वह इतना दुःखी बन जाता है कि अपना अस्तित्व अर्थहीन समझने लगता है। कहानीकार ने कथावाचक की ज़बानी यह कहलवाया है, "......मैं सुलगती डाल पर बैठा हुआ एक पंछी हूं लेकिन फिर भी किसी प्रकार की घुटन या टूटन नहीं महसूस हो रही। शायद दर्द गहराई में उतरकर किसी ज्योति को खोजने के लिए कहीं दूर चला गया है और इस समय मेरे अस्तित्व को अर्थ-हीन बनाकर छोड़ गया है।"[1] कथावाचक का यह कथन कि दर्द गहराई में उतरकर किसी ज्योति को खोजने के लिए कहीं दूर चला गया है, कहानी को आरम्भ में कुछ व्यंग्यात्मक स्तर पर उठाता है। जब कथावाचक की मूल्यवान चीज़ ही गयी, तब पेड़ गिनने का क्या अभिप्राय रहता है और किस ज्योति को खोजने के लिए दूर जाना है? हां, यह अवसाद, घुटन, निराशा एवं विसंगति की ज्योति हो सकती है। कहानी का अन्त भी इसी अवसाद तथा दुःख की स्थिति से होता है।[2]

इस प्रकार यह कहानी घुटन एवं टूटन की अनुभूति को प्रकट करती है, जिसका सृजन मनोवैज्ञानिक धरातल पर हुआ है। कथावाचक का यथार्थ परिवेश से कटकर एकान्त में लौटना इसी बात को स्पष्ट करता है। कहानी का पूर्वार्द्ध पत्र पर अवलंबित है और उत्तरार्द्ध फ़्लैश-बैक पर। कहानी के संकेतों, प्रतीकों एवं फ़्लैश-बैक ने इसको संश्लिष्टता दी है, किन्तु इसके माध्यम से ही यह भली-भांति स्थापित हुई है। यह शिल्प-वैशिष्टय कहानी के सृजन पर आरोपित न होकर, उसकी आन्तरिक रचाव का परिणाम है। एक भावुक कवि का यथार्थ से कटकर अतीत में चले जाना उसकी नियति हो सकती है, किन्तु जिस हद तक वह भावुक है और पहाड़ आंसू बहाता है, वह आज के युग का स्वर नहीं हो सकता। विज्ञान ने आज के मानव को भावना-शून्य छोड़ कर रखा है। उसके सम्बन्धों में अस्थिरता आई है और उसकी भावनायें तक भी दहल जाती हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि कहानी का कथावाचक सामान्य न होकर असामान्य पात्र है। उसकी अपनी ज़िद है और

---

1. 'दुहरी टूटन' : डॉ० मुहम्मद अयूब खां 'प्रेमी' दे० वितस्ता, सितम्बर, 1969; पृ० 52।
2. उपरिवत्; पृ० 57।

यही ज़िद उसको घुटन एवं टूटन अनुभव करने के लिए विवश करती है। वह समाज से कटकर अन्तर्मुखी हो जाता है और बाद में अपने आपसे कटकर उसकी दशा और भी दारुण हो जाती है। यह भावुक कथावाचक (कवि) यदि रवीन्द्र कालिया की कहानी 'नौ साल छोटी पत्नी' के नायक 'कुशल' से मिलता, तो उसे ज्ञात हो जाता कि आज का आदमी भावुक होने के लिए सिगरेट फूंकता है, गर्म चाय की चुस्कियां लेता है किन्तु फिर भी भावुक नहीं हो पाता। इसी कहानी का दूसरा पात्र 'सोम' जब भावुक दिखाया गया है, तो उस पर खिल्ली उड़ा दी गई है। इसलिए 'दुहरी टूटन' के कथावाचक की भावुकता युगीन नहीं हो सकती।

प्रस्तुत कहानी की भाषा साहित्यिक है, जो कि पात्रानुकूल है। सम्पूर्ण कहानी पर व्यक्तिगत स्वर छाया हुआ है। कहानी के एक-आध समष्टिगत संकेत को भी आत्मनिष्ठ किया गया है। कुल मिलाकर 'वस्तु' तथा 'शिल्प' के लिहाज़ से यह डॉ० 'प्रेमी' की एक प्रतिनिधि रचना मानी जानी चाहिए।

(20) **"नायक" : हरिकृष्ण कौल** (कश्मीरी)[1]

आज़ादी के बाद हिन्दीतर प्रदेश के जिन कहानीकारों ने हिन्दी कहानी को विकसित करने में योगदान दिया, उनमें कौल जी प्रमुख हैं। इनकी कहानियों का स्वर प्राय: अद्यतन है। 'नायक' नामक कहानी के माध्यम से लेखक ने आवरण और मुखौटों के नीचे छिपे समय और परिवेश के नग्न यथार्थ को समझने की कोशिश की है। कहानी का प्रधान पात्र 'प्रोफ़ेसर' जिस प्रकार अपने बारे में निस्संकोच मानवीय दुर्बलताओं से अवगत कराता है उससे इसका सृजन व्यंग्यात्मक स्तर पर उठता है। वह नाटक देखने के लिए थियेटर में कुर्सी पर बैठा हुआ है। उसकी अगली पंक्ति की बिल्कुल पास वाली कुर्सी पर उसके कालेज का चपरासी बैठा हुआ है। प्रोफ़ेसर यह सहन करने को तैयार नहीं है कि उसका चपरासी भी उसके साथ नाटक देखने का आनन्द ले। "यदि वहां मिनिस्टर या डायरेक्टर का चपरासी होता तो कोई बात नहीं थी। मैं अनुरोध करके उसे अपनी बगल वाली सीट पर बिठाता। शायद उसे सिगरेट भी पेश करता। मगर वह मेरा अपना चपरासी था।"[2] प्रोफ़ेसर को अपने विस्तृत ज्ञान पर भी काफ़ी गर्व है। वह इसमें इतना लीन दिखाई देता है कि उसके होश भी ठिकाने नहीं रहते। उसको हाल में अपने

---

1. कहानीकार की विशेष जानकारी के लिए देखिए हमारी पुस्तक "जम्मू-कश्मीर का कथांचल" : प्रकाशक—एस० चंद एंड कम्पनी दिल्ली।
2. इस हमाम में : हरिकृष्ण कौल; पृ० 81।

अस्तित्व का अहसास तब हो जाता है, जबकि उसका अपना चपरासी ही उसके गाल पर तमाचा मारता है। कारण यह है कि वह चपरासी के कंधे पर सिर रखकर सो गया था और लार से चपरासी का सारा कोट तर किया था। यह बात प्रोफेसर के लिए पीड़ाजनक थी। अपने अपमान पर आवरण डालने के लिए उसने आस-पास के लोगों से कहा कि वह एक गम्भीर विषय पर पुस्तक पढ़ रहा था, इसलिए उसके सोने का प्रश्न ही नहीं उठता था। वह किताब खोलकर दिखाता भी है, किन्तु उसके पास किसी गम्भीर विषय की कोई पुस्तक न होकर एक अलबम था जिसमें अभिनेत्रियों की नंगी तस्वीरें थी। अपने आप के बारे में स्वयं प्रोफेसर कहता है, "मेरी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि मैं किसी भी स्त्री अथवा पुरुष का नंगा या नंगा होते नहीं देख सकता।"[1] उधर जो आदमी उसके केस की तहकीकात करता है, वह केस की नहीं, बल्कि बेबाक तथा निर्लज दृष्टि से एक अभिनेत्री के नंगे चित्र की परख करता है।

हाल में नाटक शुरू होता है तो प्रोफेसर को हाल के एक अन्धेरे कोने में कुछ बच्चे आपस में लुका-छिपी खेलते दिखाई देते हैं। वह नाटक के प्रबन्धकों, अभिनेताओं तथा अपने चारों ओर के लोगों से असंतुष्ट है, क्योंकि उनमें वे गुण नहीं, जो उसमें हैं। कहानी के अन्त में ही प्रोफेसर को ध्यान आ जाता है कि वह वास्तव में नाटक देखने नहीं, बल्कि उसकी समीक्षा लिखने के लिए वहां आया था।

इस कहानी की सृष्टि मनोवैज्ञानिक धरातल पर हुई है। व्यष्टि के माध्यम से इसमें समष्टि के व्यापक संकेत दिए गए हैं। कहानी फैंटेसी का कुछ रूप लिए हुए है। यह आज के आदमी को इस तरह नंगा करती है कि उसको कोई आवरण अपने पीछे नहीं छुपाता हुआ दिखाई देता। शिल्पहीन शिल्प की यह कहानी कौल महोदय की कला का सही परिचय कराती है।

(21) "भोला और वह" : महीप सिंह

महीपसिंह साठोत्तरी हिन्दी कहानी के लेखकों में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्होंने हिन्दी कहानी में सचेतनवादी आन्दोलन चलाकर एक विशिष्ट प्रकार की कहानियां प्रदान की हैं। इसके अनुसार उन्होंने अपनी रचनाओं में आस्थावादी स्वर उजागर किया। स्वयं उनके ही शब्दों में, "मनुष्य की प्रकृति जीवन से भागने की नहीं रही है। जीवन की ओर भागना ही उसकी नियति

1. इस हमाम में; पृ० 81।

है। ······आज की स्थिति टूटती हुई आस्थाओं से पीड़ित होने, चौंकने या निर्लिप्त होकर उसे देखने की नहीं है, बल्कि उन्हें साहसपूर्वक स्वीकारने और उनमें सहज होने की है।''[1] महीप के इस कथन से एक रचनाकार के रूप में उनकी जीवन-दृष्टि स्पष्ट होती है। उनकी 'स्वराघात', 'घिराव', 'टकराव' तथा ऐसी ही दूसरी रचनाएं इसी बोध का अहसास दिलाती हैं। 'भोला और वह' नामक उनकी कहानी इसी परम्परा में आती है।

प्रस्तुत कहानी की वस्तु तथा रूप बिलकुल स्पष्ट है। कहानी का भोला एक पन्द्रह वर्षीय लड़का है। पिछले दो-तीन साल से वह एक अजीब परेशानी में फंसा हुआ दिखाई देता है। वह जहां भी जाए, जो भी काम करे, उसका 'वह' उसके साथ होता है। उस दिन जब भोला नाना के घर आया, तो सामान पहले ही चैक न करवाने के कारण उसको बाबू के सामने शर्मिन्दा होना पड़ा। कुली के इशारे पर वह बाबू को अब रिश्वत देने के लिए भी तैयार हुआ, कि उसके 'वह' ने उसे ऐसा अनुचित कार्य करने से रोका। एक दूसरे स्थल पर 'वह' ही भोला को समझाता है कि गाड़ी में बिना टिकट सफ़र करना बहुत ही बुरी बात है। इस प्रकार अन्त में भोला बिगड़कर सुधर जाता है। वास्तव में भोला का 'वह' उसी का ही दूसरा रूप है। भोला के अन्दर बैठा हुआ दूसरा भोला उसको उचित-अनुचित की तमीज़ से सचेत करता है।

कहानीकार ने यह कहानी बिना किसी शैल्पिक निखार के इस को सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है। कहानी में अन्तर्द्वन्द्व की स्थितियों को भी दो-एक स्थान पर दिखाया गया है। कहानी का प्रत्येक आयाम स्वत: ही बोधगम्य है। 'महीप' ने कहानी की सृष्टि यथार्थ के धरातल पर तो की है, किन्तु ज़रा आगे जाकर उन्होंने अपने पात्र में सचेतनता या आत्मसजगता का स्वर भर दिया है जो कि आरोपित-सा लगता है। इससे यही स्पष्ट होता है कि कहानीकार एक विशिष्ट चिन्तन-प्रणाली पर चलकर अपनी कहानियों का निर्माण करता है। यहां यह कहना असंगत न होगा कि आज की कहानी लिखने के लिए हम किसी भी पूर्वनिर्धारित चिंतन अथवा शिल्प के नुस्खों को इस्तेमाल में लाकर इस विधा को सीमित कठघरों में कैद नहीं कर सकते। ऐसा करके कहानी-रचना की प्रामाणिकता संदिग्ध जान पड़ती है।

---

1. जीवन की वास्तविकता की खोज : डॉ० विनय दे० संचेतना दिसम्बर, 1973; पृ० 21।

(22) "ललितादित्य के मार्तंड" : छत्रपाल[1]

प्रस्तुत कहानी की थीम यह है कि जब किसी ऐश्वर्यशाली व्यक्ति की पुरानी दुनिया छिन्न-भिन्न हो जाती है, तो ललितादित्य के मार्तंड मंदिरों की तरह ही उसका आकस्मिक पतन हो जाता है। इन अवशेष मंदिरों की तरह ही उसके लिए शेष रह जाता है, मान-प्रतिष्ठा का एक आदर्शनीय मलबे का ढेर। जब यह व्यक्ति "आसपास से कटकर अंतर्मुखी हो जाता है, तो उसमें और शून्य में भटकते प्रेत में कोई अन्तर नहीं रहता।"[2]

कथावाचक के 'अंकल' कभी लाखों के मालिक थे, उनके पास मोटर गाड़ियां थीं, फाइनेंस कम्पनियां थीं,······किन्तु परिस्थितियों ने पलटा खाया और उनका आकस्मिक पतन हुआ। इसके बावजूद वे अपने बाहरी नाम तथा प्रतिष्ठा को बनाए रखते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि उनकी टांगें जवाब दे चुकी हैं, उनकी कमर टूट गई है और वे केवल नयनों से ही मील पत्थर गिनते जाते हैं। कहानीकार ने उनकी दशा एक बर्फ के पुतले की-सी दिखाई है। जब बर्फ का पुतला तेज़ धूप में पिघलने लगता है, उसके नयन-नक्श समाप्त हो जाते हैं और पीछे रह जाता है बर्फ का एक बेडौल ढेर[3], जिसमें लोग कोई रूचि नहीं रखते हैं। यही दशा कथावाचक के अंकल की हो गई है। कहानीकार ने एक रेखाचित्र के माध्यम से भी उनकी दीन तथा हीन स्थिति का चित्रण किया है : "(उनकी डायरी के एक पृष्ठ पर) एक रेखाचित्र था, जिसे देखकर मैं सिहर उठा। वृक्ष की एक मोटी डाल है। उससे एक फंदा लटक रहा है और फंदे से एक लाश झूल रही है। गर्दन खिंचकर लम्बी हो गई है। कपड़े ढीले-ढाले, बाल बिखरे हुए।"[4] ये बिम्ब ठीक उसी व्यक्ति के हो सकते हैं जो कथावाचक के अंकल की तरह हैं और जो आकाश से गिर कर पृथ्वी पर पछाड़ खा गया है। कहानी का एक और स्थल इस प्रकार है, "एक बार वे (अंकल व आंटी) मुझे ललितादित्य के मार्तंड दिखाने ले गए। यह स्थान श्रीनगर से लगभग 45 मील है। क्लास में फादर जोन्स ने सम्राट

---

1. कहानीकार के विशेष परिचय के लिए दे० हमारी पुस्तक "जम्मू-कश्मीर का कथांचल"।
2. ललितादित्य के मार्तंड : छत्रपाल दे० धर्मयुग, पृ० 9, 20 दिसम्बर, 1970।
3. उपरिवत्; पृ० 9।
4. उपरिवत्; पृ० 10।

ललितादित्य के विषय में हमें पढ़ाया है। वह आठवीं शताब्दी का कारकोटक वंश का एक शक्तिशाली सम्राट था। उसका साम्राज्य विशाल था। अपने राज्यकाल में उसने बड़े-बड़े भव्य मंदिर निर्मित करवाए। मार्तंड—आकाश से बातें करते ऊंचे-ऊंचे भरकम, अपने गौरव के प्रतीक !"[1] ठीक यही हाल कथा-वाचक के अंकल का था। पतन के बाद उसके पास ललितादित्य के मंदिरों की तरह केवल खंडहर रहे। कहानी का एक और स्थल :—"ये मार्तंड जिस वैभव से निर्मित हुए थे, ललितादित्य के जाते ही उतनी ही आकस्मिकता से उनका पतन हो गया। ......अब रह गई थीं बड़ी-बड़ी दीवारें, बेडौल खंडहर, जिस पर लम्बी-लम्बी घास उग आई थी।"[2]

इस प्रकार मार्तंड-मंदिर एक प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसका प्रयोग कई अर्थों में सफल माना जा सकता है। कहानी के सभी तत्त्व एकान्वित प्रभाव की सृष्टि करते हैं। कहानी के आरम्भ तथा इति में एकरसता है अर्थात् इसका आरम्भ आकस्मिक पतन से उत्पन्न व्यथा की ओर संकेत करता है तो इति इसका पूरक है। वैयक्तिक स्वर का प्राधान्य होने पर भी इसमें समष्टिगत मूल्य व्याप्त हैं।

कहानी का एक विषम स्वर भी है। एक पन्द्रह वर्षीय लड़के (कथावाचक) द्वारा इतने सूक्ष्म प्रतीकों तथा बिम्बों का चित्रण करना सृजनात्मक स्तर पर आरोपित-सा लगता है।

कहानी का विषय ताज़गी लिए हुए है तथा शिल्प में भी निखार है। हिन्दी कहानी-साहित्य में यह नवीन दिशा-संकेत करती है तथा इसे एक उपलब्धि के रूप में गिना जा सकता है।

(23) "चीजें कितनी तेजी से बदल जाती हैं......" : सोमेश्वर

युवा कहानीकार सोमेश्वर की यह एक लम्बी कहानी है। 'विषय' तथा 'निर्वाह' दोनों दृष्टियों से यह समकालीन कहानी की एक प्रतिनिधि कहानी है। प्रस्तुत कहानी का सृजन व्यंग्यात्मक स्तर पर चलता है। आज के युग में चीजें कितनी तेज़ी से बदल जाती हैं......यहां तक कि हमारी भावनाएं तक बदल जाती हैं किन्तु जन्मजात संस्कार सहज ही बदलाए नहीं जा सकते।

1. ललितादित्य के मार्तंड : छत्रपाल दे० धर्मयुग; पृ० 10, 20 दिसम्बर, 1970।
2. उपरिवत्; पृ० 10।

'कहानी' में एक निम्न मध्यवर्गीय दम्पति आधुनिक बनने की प्रक्रिया से गुज़रते हैं, तब उन्हें जिन सांस्कारिक संकटों से गुज़रना पड़ता है, यह कहानी उनको उकेर देती है। पति कुछ समय के लिए आधुनिक बनने का प्रयत्न करके आधुनिक ढंग से ही सोचने लगता है।[1] अपने आप में एकदम यह परिवर्तन लाकर उसे महसूस होता है कि होटल का यह सारा वातावरण (जहां कि वह सपत्नी कई क्षण व्यतीत करने गया था) उस पर मौन अट्टहास करता है। वह अस्वाभाविक 'टोन' में पत्नी को कहता है कि वह बदलते वातावरण के साथ क्यों नहीं बदलती, अपने बच्चे को सज्ज-धज्ज कर क्यों नहीं रखती,...... जबकि पति भूल-सा जाता है कि उसकी धर्मपत्नी को पहनने के लिए दूसरी साड़ी नहीं है, स्वयं अपनी चप्पलों की एड़ियां घिस गई हैं......। पत्नी को पति का यह व्यवहार दु:खाता-काटता है। उधर पति को अपना ही व्यवहार असंगत-सा सगता है। वह समझता है कि उसके प्रति होटल के मालिक की व्यक्त शराफत और अव्यक्त घृणा उसे और अधिक अपमानित कर रही है।[2] वह इसी परिणाम पर पहुंचता है कि संस्कार बदले नहीं जा सकते......एक गवारूपन, जो लगातार चलता रहता है, सही रूप में बिल्कुल नहीं बदला जा सकता।[3] इस प्रकार यह कहानी उन ढहते मूल्यों की है जिनमें व्यक्ति आज कटता-घिसटता चला जा रहा है। वह अपनी स्थिति को भुलाकर 'फ्रैंकनेस' आदि अर्थों की रोशनी में लिपटना चाह रहा है। लेकिन वास्तव में वह ऐसा है ही नहीं, अगर है तो समय से बहुत ज्यादा पीछे। कोरी चमक-दमक और विदेशों की छिछली भौतिकता की ज़हरीली हवा में वह रहना पसंद करता है, किन्तु वह नहीं रह पाता। इसी 'न रहने की ललक' और फिर 'न रह सकने की निराशा' की स्थिति को लेखक ने एक स्पष्ट और अर्थपूर्ण मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। चूंकि यह कहानी एक विशेष 'मूड' की स्थिति से गुज़र कर

---

1. "चीजें कितनी तेज़ी से बदल जाती हैं ! पति सोच रहा था, चीज़ों के बदल जाने के साथ-साथ उन्हें भी बदल जाना चाहिए और उन्हें शामिल होकर खुशी जितनी हासिल हो सके करनी चाहिए। यह क्या, दिन-रात परेशानियों से घिरे रहें ! बदलती चीज़ों के साथ खुद भी बदलने से कितनी खुशी होती है !"

   —सारिका : मई, 1972; पृ० 9।

2. उपरिवत्; पृ० 65।
3. उपरिवत्; पृ० 66।

लिखी गई है, इसलिए कहानी का कहानीपन यहां शून्य के बराबर है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर आधारित यह कहानी सोचने-समझने के आयामों को सामने ला देती है। कहानी को आगे बढ़ाने में संवादों ने बहुत ही योगदान दिया है। कहानी का अधिकांश भाग 'मृगतृष्णा की ललक' को दर्शाता है और शेष भाग उसको प्राप्त न करने के कारण उससे उत्पन्न हुई निराशा, शून्यता तथा विसंगति-बोध पर आधारित है। कहानी में विद्रोह या क्रान्ति का स्वर दिखाई नही देता है।

कुल मिलाकर "चीजें कितनी तेज़ी से बदलती हैं" स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी की एक श्रेष्ठ रचना के रूप में स्वीकार की जानी चाहिए।

पंचम अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का शिल्प

(क) कहानी-शिल्प के प्रति एक नवीन दृष्टि

आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सन् 1936 से ही पश्चिम की विभिन्न चिन्तन-प्रणालियों का प्रभाव हिन्दी के कहानीकारों पर पड़ने लगा था। 'प्रगतिवाद' एवं 'मनोविश्लेषण' का स्पष्ट प्रभाव प्रेमचन्दोत्तर कहानीकारों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कहना न होगा कि हिन्दी के कहानीकारों ने इन चिन्तन-पद्धतियों को वैचारिक स्तर पर अधिक और सृजनात्मक स्तर पर कम ग्रहण किया, जिसके परिणामस्वरूप इन कहानीकारों पर यह आरोप लगाया जाता है कि इन्होंने साहित्य-प्रसार की अपेक्षा सिद्धान्त-प्रचार ही किया। कहीं-कहीं यह प्रभाव आरोपित भी लगता है।

जैसा कि हमने देखा कि स्वतंत्रता के बाद हमारी विभिन्न परिस्थितियों में आमूलाग्र परिवर्तन आए और इसके अनुरूप हिन्दी के साहित्यकारों ने नव-चेतना एवं नवीन दृष्टि को लेकर हिन्दी-कहानी की सृष्टि की। पश्चिमी चिन्तकों का प्रभाव हिन्दी-कहानी के रचनाकारों ने और भी अधिक ग्रहण किया और अस्तित्ववादी जैसी युगानुकूल विचारधारा का प्रभाव इनकी रचनाओं पर छाया रहा। नवीन चेतना के नये कहानीकारों में पुराने वादों से मुक्त होने की छटपटाहट स्पष्ट दिखाई दे रही थी और वे अब स्वतंत्र रूप से साहित्य-सृजन करना चाहते थे। लेकिन इसके बावजूद उन पर प्रगतिवाद एवं मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव अब भी परिलक्षित होता है। कहना न होगा कि जिस अर्थ में व्यतीत क़हानीकारों ने 'प्रगतिवाद' एवं 'मनोविश्लेषणवाद. जैसी चिन्तन-प्रणालियों का प्रभाव ग्रहण किया, स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों ने इस प्रभाव को उसी रूप में ग्रहण नहीं किया है। व्यतीत कहानीकारों ने इस प्रभाव को सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक रूप में ग्रहण किया, जबकि नई चेतना के स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों ने इस प्रभाव को व्यावहारिक रूप में ले लिया। इस प्रकार व्यतीत कहानियों की अपेक्षा स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में अनुभव की प्रामाणिकता है, क्योंकि इन कहानियों का चिन्तन कहानी के आन्तरिक रचाव का परिणाम है।

अस्तु, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानियों पर मनोविश्लेषण का प्रभाव हो या मार्क्सवाद का, अस्तित्ववाद जैसी नवीन प्रणाली का प्रभाव हो या और कुछ, वह अन्ततः नये भाव-बोध एवं नवीन शिल्प की कहानी है। इस कहानी में शिल्पगत सम्बन्धी वे विशेषताएं उपलब्ध होती हैं कि उसे सहज ही व्यतीत कहानी से अलगाया जा सकता है। अतः आज की ऐसी कहानी जिसमें प्रगति-चेतना दिखाई दे, कभी भी पुरानी प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कहानी से 'वस्तु' अथवा 'शिल्प' के धरातल पर मेल नहीं खा सकती। आज की प्रगति-चेतना पर आधारित कहानी की आलोचना भी व्यतीत प्रगतिवादी कहानी के ढर्रे पर नहीं हो सकती। इस संदर्भ में कई स्वातंत्र्योत्तर कहानियों का उल्लेख करना असंगत न होगा। कमलेश्वर की 'मांस का दरिया' तथा शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' ऐसी कहानियां हैं जिनके पात्र निम्न-वर्ग से आते हैं और दोनों कहानियों के पात्र आर्थिक विषमता से ग्रस्त हैं। ये कहानियां सतही तौर से प्रगतिवादी कहानियां लग सकती हैं। यहां यह कहना असंगत न होगा कि इन कहानियों की संवेदना प्रगतिवादी न होकर और कुछ है। 'कोसी का घटवार' में एक ऐसे व्यक्ति के बिम्बों को दिखाया गया है जो निपट अकेला है और इस एकाकीपन से उसके जीवन में व्यथा, विसंगति और शून्यता जैसे भाव छाए हुए हैं। इन कहानियों में विद्रोह अथवा व्यंग्य की भावना कहीं भी नहीं दिखाई देती है। अतः एक आलोचक के इस कथन से सहमत होना अनुचित लगता है कि ये प्रगतिवादी कहानियां हैं।[1] यहा फिर एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या निम्न-वर्ग अथवा निम्न-मध्य-वर्ग को लेकर जो कहानी लिखी जाए, वह प्रगतिवादी कहानी ही है?—यदि ऐसी बात है तब भूल से हम अमरकांत की 'दोपहर का भोजन' को प्रगतिवादी कहानी ही मानेंगे। इसमें एक निम्न-मध्य-वर्ग के परिवार को हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है जो बेबसी के आलम में है। यहां इस बात की ओर संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि यह कहानी अमीर-ग़रीब की तुलना को लेकर नहीं लिखी गई है और न ही इसमें विद्रोह की कोई भावना ही उजागर की गई है। यहां कहानीकार यह बताना चाहते हैं कि मान-मर्यादा एवं झूठी प्रतिष्ठा का आवरण फाड़कर मनुष्य कैसे वास्तविक मानव बनकर जीवन झेल रहा है। इन कहानियों तथा ऐसी ही दूसरी स्वातंत्र्योत्तर कहानियों को प्रगतिवादी कहानियां मानना भूल के अतिरिक्त और क्या है। इतना ही नहीं, व्यतीत प्रगतिवादी कहानियों की तरह इनकी आलोचना अवयवों में काटकर नहीं की जा सकती। न ही इन

1. प्रगतिवाद : शिव कुमार मिश्र; पृ० 126-127।

कहानियों में विद्रोह, तुलना, व्यंग्य, और क्रान्ति जैसी भावनाओं का ही समावेश है।

यही बात स्वातंत्र्योत्तर उन हिन्दी कहानियों की भी है, जिनमें मनोविश्लेषणात्मक तत्त्व का योग है। वैसे मनोविश्लेषणात्मक विवेचन के बिना कहानी-पात्र दूर का दिखाई देता है, क्योंकि मनोविज्ञान उसका मानसिक अवयव है। यहां यह बात भी दोहरानी पड़ेगी कि आज की कहानी में जिस मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण का तत्त्व समाहित होता है, वह फार्मूलाबद्ध अथवा सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक होता है। इस हिसाब से भी आज की मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणात्मक कहानी अन्ततः नई कहानी ही ठहरती है और उसे अलग से कोई दर्जा नहीं दिया जा सकता, क्योंकि आज की प्रायः प्रत्येक कहानी में इसका योग कुछ-न-कुछ ज़रूर होगा।

इसी प्रकार स्वातंत्र्योत्तर काल में स्थानीय रंग को लेकर जिन आंचलिक कहानियों का निर्माण किया गया है, वे 'नई कहानी' के समानान्तर ही चली हैं और दृष्टि के लिहाज़ से उन्हें नई कहानियों से भिन्न नहीं माना जा सकता। भाव-बोध एवं दृष्टि की नवीनता से उन्हें नई कहानियों के अन्तर्गत रख लेना समीचीन दिखाई देता है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान तथा दूसरे कई आलोचक स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक कहानियो को भिन्न नहीं मानते हैं। कई नवीन आलोचक इन्हें नई कहानियों से भिन्न मानते हैं। उनका कथन है कि आंचलिक कहानी गांव की कहानी है और उसे शहर की कहानी नहीं माना जा सकता। उनका तर्क है कि भारत के ग्रामों में अब भी पुरानी संस्कृति, परंपराएं आदि मौजूद हैं।[1] अतः शहर की कहानी एवं ग्राम की कहानी एक-सी नहीं हो सकती। ऐसे आलोचक भूल जाते हैं कि आंचलिक कहानी का 'कैनवास' केवल ग्रामीण आंचलिकता तक ही सीमित नहीं हो सकता। वास्तव में आंचलिकता शहर के साथ-साथ गांव की भी हो सकती है। अब यातायात के सुगम साधनों एवं समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन आदि से गांव एवं शहर की दूरी पाट दी गई है। इस हिसाब से इन आलोचकों का कथन और भी भ्रामक दिखाई देता है। समय आ रहा है कि जब कहानियों का विभाजन देश-विदेश के आधार पर भी नहीं होगा, क्योंकि बदलते युग के साथ यह धारणा भी पुरानी होती जा रही है। एक देश का कहानीकार या उसकी रचना सारे विश्व के लोगों की रचना हो सकती है।

---

1. आधुनिक हिन्दी-कहानी-साहित्य में प्रगति-चेतना : डॉ० लक्ष्मणदत्त गौतम; पृ० 375।

कहने का तात्पर्य यही है कि स्वातंत्र्योत्तर कहानी अन्ततः नये विषय, शिल्प एवं दृष्टि की कहानी है। उसे 'प्रगतिवादी', 'मनोविश्लेषणवादी' आदि जैसे पुराने अवयवों में काटकर उसके शिल्प की मीमांसा करना ठीक नहीं दिखाई देता। इन वादों तथा नवीन चिन्तन-प्रणालियों का योग कहानी में स्वाभाविक स्तर पर होता है।

स्वातंत्र्योत्तर कहानी का शिल्प निरन्तर विकसित होता जा रहा है। समय-समय पर इन कहानीकारों ने इसमें स्थिति के अनुसार शिल्पगत परिवर्तन किए हैं। यदि इसके शिल्पगत विकास का सरलीकरण करके इसको आयामों में देखा जाए, तो इसे निम्नलिखित दो भागों में विभाजित करके देखा जा सकता है: (1) पचासोत्तरी हिन्दी-कहानियों का शिल्प या नयी कहानी का शिल्प। (2) साठोत्तरी हिन्दी-कहानियों का शिल्प।

इन आयामों को देखकर यही निष्कर्ष निकलता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी यथार्थ के अत्यन्त समीप जाने का प्रयत्न करती रही है। आगे इसी बात को स्पष्ट किया जाएगा कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी की क्या शिल्पगत विशेषताएं हैं जो कि इसको पुरानी कहानी से अलगाती हैं।

(ख) नयी कहानियों का शिल्प

व्यतीत कहानी की विवेचना करने की आवश्यकता जब हमें पड़ी है, तो हम इसे कहानी-तत्त्वों (वस्तु-विन्यास, पात्र, संवाद······आदि) में विभाजित करके इसका नीर-क्षीर विवेक के रूप में विवेचन करते आए हैं। नयी कहानी का विवेचन जब इन तत्त्वों के आधार पर किया जाता है तो यह काम न केवल भ्रामक तथा निराधार लगता है, बल्कि कठिन, अवैज्ञानिक और कहीं-कहीं असम्भव भी प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि 'नयी कहानी' का रूप उसके "वस्तु-बोध के आन्तरिक रचाव का अनिवार्य प्रतिफलन ही नहीं है, उसका पृक्त आकार भी है; जब अपने आन्तरिक रचाव का तनाव झेलती हुई कथा (या कोई भी रचना) एक ख़ास मिज़ाज पकड़ लेती है या पकड़ती होती है, तब यह मिज़ाज उसकी नितान्त अपनी अनिवार्य मांग है, लेकिन उससे (कथा अनुभव केन्द्र से) पूरे तौर पर एक नहीं होता क्योंकि वह वही नहीं है यानी उसका महज़ शिल्प होने से अर्थ नहीं बूझा जा सकता।"[1] दूसरे शब्दों में कहें, 'नयी कहानी' में कहानी की समग्रता को ही प्राश्रय मिला और यह स्पष्ट हुआ कि "कहानी बनाई नहीं जाती, वह स्वयं अपना रूप ग्रहण

1. नयी कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 74।

करती है और इस प्रयास के साथ कहानी की सारी पच्चीकारी और शिल्प कहानी के नए स्थापित स्वतंत्र अस्तित्व में पर्यवसित हो गया ।"[1]

स्पष्ट है कि सन् '50 के बाद 'कहानी-लेखक' तथा समालोचक की दृष्टियों में कहानी के प्रति एक आमूलाग्र परिवर्तन आया । 'वस्तु' तथा 'ट्रीटमेंट' के लिहाज़ से वह वही न रही, जिसके हम अभ्यस्त थे । कहानी के आन्तरिक रूप तथा शैली में काफी परिवर्तन आया । नये कहानीकारों का दावा है कि उन्हें, "मानवीय मूल्यों के संरक्षण, जीवनी शक्ति के परिप्रेषण एवं सामाजिक नव-निर्माण की उत्कट प्यास है । ......आज की कहानी 'नयी भावभूमियों का सृजन' भी कर रही है । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि कहानी की आलोचना को एक नए स्तर पर उठाया जाए ।"[2]

आज का कहानीकार शिल्प के नए प्रयोग करने की प्रवृत्ति में है तथा कई-एक कहानियां केवल प्रयोग के लिए ही लिखी गई हैं । इसके अतिरिक्त कहानी के आन्तरिक गठन में भी काफी परिवर्तन हुआ है । 'नयी कहानी' में गद्य की दूसरी विधाओं को इस सीमा तक आत्मसात किया है कि रेखाचित्र, रिपोर्ताज़, यात्रा-विवरण, निबन्ध आदि भी उसकी सीमा में घुसे हैं । कभी-कभी इन साहित्य रूपों की सीमाएं एक-दूसरे के भीतर इस दूर तक चली जाती हैं कि उन्हें अलगाना कठिन हो जाता है और इस प्रकार कहानी की समूची परिभाषा ही बदल गई है ।

स्पष्ट है कि जब कहानी की परिभाषा ही बदल गई, उसके 'विषय' तथा 'एप्रोच' में आमूलाग्र परिवर्तन आया, उसको पुराने शिल्प में ही देखने-परखने से क्या अन्याय नहीं किया जाता है ? पुरातनवादी पाठकों एवं समीक्षकों के लिए 'नयी कहानी' इसीलिए अच्छी कहानी नहीं है, क्योंकि पूर्व-निर्धारित सांचे में उन्हें फिट होते नहीं दिखाई देती है और इसीलिए वे उसे कहानी कहने से गुरेज़ भी करते हैं । कारण यह है कि नए कहानीकारों ने पाठक की रूचि के लिए कभी अभीप्सित नतीजे नहीं निकाले...... "नयी कहानी ने पाठक के संस्कारों को ठेस पहुंचायी, उसके स्थापित मूल्यों को ग़लत और झूठा साबित किया और उसके दिमाग़ में बनी हुई रूढ़ियों को झकझोर दिया । यह उस कथ्य के कारण ही सम्भव हुआ जिसने शैली और शिल्प के मेकअप को उतार लिया था और किसी भी तरह का शृंगार करने से इन्कार कर दिया था । वह अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ सामने

1. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर; पृ० 192 ।
2. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह; पृ० 25 ।

आया था ।''[1] इस तरह शिल्प को विभिन्न अवयवों में काटकर जब उसकी आलोचना की जाती है, उससे कहानी की जीवनी-शक्ति का अपहरण किया जाता है । इसको आधार बनाकर कहानी की जब विवेचना की जाती है, तो न्याय के बदले अन्याय होता है । डॉ० नामवर सिंह का कथन ठीक है कि ''यह सारी आलोचना वैसी ही है, जैसे किसी भाषा का परिचय उसकी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि 'परिभाषाओं' में दिया जाए ।''[2]

इस कथन का निष्कर्ष यही निकलता है कि कहानी को अब शास्त्रीय कठघरों (कथाविन्यास, पात्र……आदि) में काटकर उसके शिल्प को देखा नहीं जा सकता । कहानी एक सम्पूर्ण उपस्थिति है और यही उसकी शैली है कि वह जीवित रूप में पाठक के सामने आ खड़ी होती है ।

कहानी में चूंकि कथ्य और उसकी संदृष्टि (विज़न) ही मुख्य है, अतः शिल्प और शैली वहां उसी से उद्‌भूत होती है । ''जिस कहानी में जीवन की जितनी सघन आसक्ति है, उतनी ही उसकी शैली निराकार है, यानी एकदम लीन ।[3] दूसरे शब्दों में यहां 'वस्तु' तथा 'शिल्प' का ऐक्य हो गया है ।

आगे 'नयी कहानी' के शिल्प पर जो विचार किया जाएगा, वह सैद्धांतिक न होकर व्यावहारिक होगा ।

× × ×

1. **नवीन कथ्य :** 'नयी कहानी' के कथानक को देखकर कहानी के पुराने पाठकों तथा आलोचकों को अत्यन्त निराशा होती है । उन्हें '' 'नई कहानी' रूप के लिहाज़ से अनगढ़, कथ्य के कोण से दीवालिया और शैली की दृष्टि बचकानी'' लगती है ।[4] इसका कारण यह है कि कहानी में जो चीज़ कथानक नाम से जानी जाती थी, उसमें मौलिक परिवर्तन आया है । पिछले कहानीकारों के यहां 'किस्सागोई' या 'कहानीपन' शिल्प का अनिवार्य तत्त्व था । उस कहानी का आरम्भ, मध्य तथा अन्त होता था । दूसरे शब्दों में, व्यतीत कहानी-लेखक कथानक की अनिवार्यता पर बल देकर इसको कारण (आरम्भ), कार्य (चरमोत्कर्ष) तथा परिणाम (अन्त) जैसी स्थितियों से

1. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर; पृ० 193 ।
2. कहानी : नयी कहानी; पृ० 27 ।
3. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर; पृ० 193 ।
4. कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव; पृ० 69 ।

गुज़ारते थे। यह त्रिकोण-पद्धति प्रेमचन्द की कहानी 'यही मेरी मातृ भूमि है' या 'सुजान भगत' अथवा प्रसाद की 'आंधी' तथा 'सालवती' में देखी जा सकती है। उनमें कारण, कार्य, परिणाम, अथवा आरम्भ, उत्कर्ष और अन्त अत्यंत विशद रूप में उपस्थित किए गए हैं। पाठक का कुतूहल बनाए रखने के लिए उसको मनोरंजक, नाटकीय तथा कुतूहलपूर्ण घटनाओं को अपनी कहानी में स्थान देना पड़ता था। इसीलिए इन कहानियों में वस्तु और शिल्प दोनों में रोचकता और उत्सुकता बनाए रखना ज़रूरी था। परन्तु अब यह व्यतीत कहानी का बनावटी शिल्प 'नई कहानी' पर आरोपित नहीं किया जा सकता है। कहानी के प्रति लेखक तथा आलोचक की जो दृष्टि रही है, उसमें अब क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। व्यतीत कहानीकार को एक 'आइडिया' या 'थॉट' चाहिए था। इसको विकसित करने के लिए वह कहानी के भिन्न-भिन्न अवयवों का सहारा लेकर इसकी सृष्टि करता था। अब 'नई कहानी' के कथानक में कहीं-न-कहीं मौलिक परिवर्तन आया है। दूसरे शब्दों में, कथानक की धारणा बदल गई है। किसी समय मनोरंजक, नाटकीय और कुतूहलपूर्ण घटना-संघटन को ही कथानक समझा जाता था और आज कहानी का यह घटना-संघटन इतना विघटित हो गया है कि लोगों को अधिकांश कहानियों में कथानक नाम की चीज़ दिखाई ही नहीं देती। इसलिए कहा जाता है कि 'नई कहानी' में कथानक का ह्रास हुआ है। किन्तु "ह्रास कथानक का नहीं, बल्कि कथा का हुआ है और जीवन एक लघु-प्रसंग, प्रसंग खंड, मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति-चरित्र ही कथानक बन गया है······ जो छोटी-सी बात पुराने कहानीकारों के लिए अपर्याप्त थी, उसी को नए कहानीकारों ने पर्याप्त मान लिया है और फिर उसके भीतर से उन्होंने कहानी के कथानक की विभिन्न सिम्मतों का विकास किया है। इस दिशा में नया कहानीकार कभी-कभी इतना अन्तर्गूढ़ हो जाता है कि आदि से अन्त तक केवल एक बात से बातें निकलती चली जाती हैं और बातों में से बात का यह निकलते जाना ही इतना मनोरंजक होता है कि एक कहानी बन जाती है।"[1] डॉ० सिंह महोदय के उपरोक्त कथन से यह अर्थ निकलता है कि नई कहानी 'किस्सागोई' तथा अनावश्यक विस्तार से पूर्णतः मुक्त है।

व्यतीत कहानियों का आरम्भ कभी नाटकीय या कुतूहलपूर्ण या कभी परिचयात्मक ढंग से या प्रकृति-चित्रण के माध्यम से हुआ करता था। इन कहानियों का आरम्भ इन ढंगों में से कैसा भी रहा हो, इनके पीछे जो प्रेरणा

1. कहानी : नई कहानी—डॉ० नामवर सिंह; पृ० 21।

काम करती थी, वह थी—साज-सज्जा का भाव। इस संदर्भ में 'प्रसाद' की 'आकाश दीप' (नाटकीय आरम्भ) तथा 'देवरथ' (कुतूहलपूर्ण आरम्भ) प्रेमचन्द की 'सुजान भगत' (इतिवृत्तात्मक आरम्भ) तथा अन्य अनेक कहानियों को देखा जा सकता है। आगे ये तथा ऐसी ही दूसरी कहानियां 'चरमबिन्दु' पर पहुंचकर पाठक का औत्सुक्य बढ़ाती आई हैं और वह 'रोमांचक थ्रिल' का अनुभव करता रहा है। इसी प्रकार कहानी का अन्त भी किया जाना था जो कि पाठक की आशा तथा कहीं-कहीं उसकी रूचि के अनुसार हुआ करता था।

जब नए कहानीकारों की कहानी-सम्बन्धी धारणा ही बदल गई, कहानी के इस पुराने शिल्प से तब विद्रोह करना भी स्वाभाविक है। नए कहानीकार का विश्वास है कि कहानी का न अथ है और न ही इति, वह जीवन की एक फांक है। इसके माध्यम से एक कहानीकार कोई युग-सत्य या जीवन का कोई लघुप्रसंग अथवा मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति आदि को दिखाता है। उसकी यह भी धारणा है कि 'पुरानी कहानी' की तरह 'नई कहानी' 'किस्सा-गोई शिल्प' से आरम्भ नहीं होती है और न ही यहीं खत्म हो सकती है। वास्तव में उसके लिए कहानी खत्म होती ही नहीं है क्योंकि, "तब वह आगे लिखी ही नहीं जाती, खत्म होते हैं कहने के ख़ास-ख़ास ढंग और उनकी जगह कहने के और या और-और ढंग आ जाते हैं……।"[1]

व्यतीत कहानीकार को अपनी रचना में वस्तु तथा शिल्प दोनों में रोचकता एवं उत्सुकता बनाए रखना ज़रूरी था या कहें एक विवशता थी। इस संदर्भ में पुराने कहानीकारों की अनेक रचनाओं को देखा जा सकता है। 'प्रसाद' की कहानियां नाटक से शुरू होती थीं और नाटकीय मोड़ों के साथ उनका अन्त भी बड़े ही नाटकीय ढंग से हुआ करता था। इस प्रकार इन कहानियों के प्रति पाठक की रूचि बढ़ती जाती थी। इन कहानियों में औत्सुक्य तत्त्व होने के कारण पाठक रोमांचक थ्रिल का अनुभव करता था। अब नया कहानीकार एवं समीक्षक नाटकीयता से शुरू होने वाली कहानी को 'फ्राड' तथा 'छलावे' से शुरू होने वाली कहानी मानता है।[2] पाठक के

---

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 75।
2. "आज का पाठक कहानियों में नाटक देखते-देखते और झटके बर्दाश्त करते-करते उनका आदी हो चुका है, उसे झटकेदार अन्त वाली कहानियों में अब न तो कोई कौतुक रह गया है और न कहानियों में नाटक देखने के लिए किसी तरह की उत्सुकता……।"
—नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 52।

लिए नाटकीय मोड़ सिवाय शैल्पिक धोखे के कोई गहरा और बींध जाने वाला आशय बोध नहीं देते, इसीलिए नाटकीयता में अन्त पाने वाली कहानी, उसके लिए धोखे में अन्त होने वाली कहानी है। कहानी के माध्यम से वह "ज़िन्दगी का 'सच' चाहता है, 'सच' के नाम पर धोखा नहीं चाहता या कथा-स्तर पर सच की अभिव्यक्ति इस तरह नहीं चाहता कि वह उसे धोखे की प्रतीति कराए, जो कि वह कथा में उस धोखे के साक्षात्कार से भी कतराता है, जिसे वह ज़िन्दगी में झेल रहा है, लेकिन चाहता इतना ज़रूर है कि वह उसे उसी भेष में कहानी में मिले जिस भेष में उससे उसका सबका ज़िन्दगी में पड़ता है......।"[1]

अस्तु, आज की कहानी का आरम्भ मन:स्थितियों, संकेतों, प्रतीकों या बिम्बों से होता है। कहीं-कहीं भाषा की ध्वनि और चित्रों के अर्थों से कहानी की शुरुआत की जाती है। दूधनाथ सिंह की एक सशक्त कहानी 'आइसबर्ग' का आरम्भ संकेतों एवं प्रतीकों से हुआ है।[2] लगता है कि कहानीकार ने आरम्भ में (तथा कहानी के बीच में) प्रकृति-चित्रण के जो संकेत दिए हैं, उनका शायद कहानी से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु वास्तविकता यह है कि दूधनाथ जी ने प्रकृति के माध्यम से कहानी के प्रधान पात्र विनय के मानसिक दु:ख, अवसाद, निराशा, शून्यता, विसंगति तथा अजनबीपन को दिखाया है। यहां बादलों का घिरा रहना तथा धूप का नामोनिशान न दिखाई देना 'विनय' के घिरे जीवन की ओर ही संकेत है, जिसमें उसको कोई स्पष्ट दिशा दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार मोहन राकेश की 'एक और ज़िन्दगी' का आरम्भ प्रतीकात्मक है, "......और उस क्षण के लिए प्रकाश के हृदय की धड़कन जैसे रुकी रही। कितना विचित्र था वह क्षण......आकाश से टूटकर गिरे हुए नक्षत्र जैसा! कोहरे के वक्ष में एक लकीर-सी खींचकर वह क्षण सहसा व्यतीत हो गया।"[3] इसी प्रकार 'राकेश' की एक और कहानी 'अपरिचित'[4]

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 52।
2. "नींद खुलते ही विनय की नज़र बाहर चली गई। धूप का कहीं नामो-निशान तक नहीं था। सामने का मैदान कोहरे से गुम था। उसने टाइमपीस पर नज़र डाली। साढ़े आठ बज रहे थे। तो ज़रूर बदली है। तभी कोहरा छंट नहीं रहा।"
—नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 156।
3. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 242।
4. मेरी प्रिय कहानियां : मोहन राकेश; पृ० 69।

तथा 'ज़ख्म'[1] को देखा जा सकता है, जिनका आरम्भ प्रतीकों तथा बिम्बों से हुआ है।

'नई कहानी' के रचनाकार एक ही प्रकार से कहानियां आरम्भ करने के लिए प्रतिबद्ध नहीं है। बदलते विषयों के अनुसार उन्होंने अलग-अलग शिल्पगत प्रयोग किये हैं। उपरोक्त कहानीकारों के अतिरिक्त ऐसे भी लेखक हैं, जिन्होंने भाषा की ध्वनि और चित्रों के माध्यम से कहानी की शुरुआत की है, कहीं फ़्लैस-बैक के माध्यम से तो कहीं फैंटेसी का बाना पहनाकर.........। मार्कण्डेय की कहानी 'दूध और दवा' का आरम्भ भाषा की ध्वनि और चित्रों के माध्यम से हुआ है[2], तो काशीनाथ सिंह की कहानी 'लोग बिस्तरों पर' फैन्टेसी का रूप लिए हुई है।[3] इतना ही नहीं, नया कहानी-लेखक अपनी कहानी का आरम्भ सपाटता तथा सादगी के साथ करने में भी कभी हिचकिचाया नहीं है। मोहन राकेश की ख्याति-प्राप्त कहानी 'मिस पाल' का आरम्भ सपाट किन्तु सशक्त है। इसके अतिरिक्त कमलेश्वर की 'मांस का दरिया' तथा 'राजा निरबंसिया', निर्मल वर्मा की 'लन्दन की एक रात', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी', श्रीकांत वर्मा की शव यात्रा', सोमेश्वर की 'चीजें कितनी तेज़ी से बदल जाती हैं......' तथा अन्य अनेक नई कहानियों का आरम्भ सपाट है। कहने का तात्पर्य यही है कि 'नई कहानी' का रचनाकार किसी 'सुनिश्चित आरम्भ' से कहानी की शुरुआत नहीं करता है। जिस किसी भी ढंग से वह कहानी आरम्भ करे, उसके सामने एक ही लक्ष्य होता है—अपनी संवेदना को पाठकों तक सम्प्रेषित करना। वह आरम्भ में ही बिम्बों, प्रतीकों एवं संकेतों से या साधारण कथन से पाठक के सामने सम्पूर्ण कहानी की स्थिति प्रस्तुत करना चाहता है। इस सिलसिले में 'नई कहानियों' का आरम्भ दृष्टव्य है।

---

1. मेरी प्रिय कहानियां : मोहन राकेश; पृ० 149।
2. "बात बहुत छोटी-सी है, नाजुक और लचीली, पर मौका पाते ही सिर तान लेती है। कोई काम शुरू करने, सोने या पल भर को आराम से पहले लगता है, कुछ देर इस प्यारी बात के साथ रहना कितना अच्छा है! वैसे मुझे काम करना, करते रहना और करते-करते उसी में खो जाना प्रिय है।......"
   —नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 270।
3. लोग बिस्तरों पर : काशीनाथ सिंह; पृ० 103।

व्यतीत कहानी का सौन्दर्य-बिन्दु उसकी चरमसीमा में माना जाता था। कहानी की यात्रा का यह वह आयाम माना जाता था जहां कि पाठक का औत्सुक्य भी चरमसीमा पर पहुंचता था। यहां से आगे पाठक की दशा इतनी भावनात्मक हो जाती कि वह 'आगे क्या हुआ होगा ....क्या नायक नायिका से मिला होगा ......आदि......' जैसे वाक्यों की रट-सी लगाता था। इस संदर्भ में जयशंकर प्रसाद की 'गुंडा', पांडेय बेचन शर्मा की 'उसकी मां', तथा प्रेमचन्द की अन्य अनेक कहानियों को देखा जा सकता है, जिनमें मध्य ब्रिन्दु पूर्णत: अपनी चरमसीमा पर पहुंच गया है। इसके विपरीत 'नई कहानी' में चरमसीमा का या मध्यबिन्दु का कोई चिन्ह तक दिखाई नहीं देता। आखिर जीवन की फांक..... ' में इतना स्थान कहां होगा कि उसमें कथानक का पूरा त्रिकोण दिखाई दे। वास्तव में कहानियों की धारणा (कन्सेप्ट) ही जब बदल गई है तब उसमें इस प्रकार का आरोपित शिल्प काम नहीं आता। 'नयी कहानी' के रचनाकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि पाठक का औत्सुक्य बनाए रखने के लिए वह कहानी में 'क्लाइमैक्स' पैदा करे। आज का कहानीकार अपनी 'रचना' तथा उसके 'पाठक' के प्रति अधिक ईमानदार है। वह अपनी रचना से एक वास्तविक स्थिति पाठक के सामने रखता है, कोई गढ़ी-गढ़ाई कहानी नहीं।

नई कहानियों का अन्त भी इसको व्यतीत कहानियों से अलगाता है। पुराना कहानीकार जब त्रिकोण-पद्धति पर आधारित कहानी रचता था, उसके लिए इसका अन्त (परिणाम) दिखाना भी अनिवार्य होता था। दूसरे शब्दों में, जो कहानी कही जाती थी, जिस चरित्र अथवा घटना की झलक दिखाई जाती थी, 'उसका अन्त क्या हुआ ? वह किस रूप में एक निश्चय पर पहुंची ? आदि। इन सभी बातों का आभास कहानी के अन्त में मिलना अनिवार्य था। चरित्र और परिस्थितियों से प्रेरित होकर, किस वातावरण में किसने क्या किया, इस सम्बन्ध में जो भी कुतूहल रहता है, उसका पूरा पूरा समाधान व्यतीत कहानी-रचनाओं के अन्त में होना भी आवश्यक माना जाता था। दूसरे शब्दों में, किसी भी प्रकार की कहानी में अन्त' प्रसरित सम्पूर्ण इतिवृत्त का सारभूत अंश समझा जाता था। यहां आकर ही कहानीकार और पाठक समाप्त-हुआ माना जाता था।[1] इसके अतिरिक्त इन कहानीकारों का अन्त प्राय: नाटकीय ('पुरस्कार' तथा 'गुंडा' में), इतिवृतात्मक (सुजान भगत तथा मधुआ) या संयुक्त अन्त (शरणागत) हुआ करता था। इन कहानियों का अन्त किसी प्रकार का भी रहा हो, इनके

1. कहानी का रचना-विधान : जगन्नाथ प्रसाद शर्मा; पृ० 68।

पीछे एक ही प्रेरक भाव काम करता था— चमत्कारपूर्ण अन्त रखकर पाठक की जिज्ञासा तृप्त करके उसको तुष्ट करना।

कहानियों की यह धारणा 'नई कहानी' के रचनाकार को अब मान्य नहीं है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि 'नई कहानी' का रचनाकार कहानी के अथ तथा इति को मानता नहीं है, उसके लिए वह जीवन की एक फांक है। उसके हिसाब से कहानी का अन्त ही नहीं होता है। यदि उसका अन्त होता तो वह आगे लिखी ही नहीं जाती। कहानी का समापन करने का उसका अभिप्राय यह है कि कहने के ख़ास-ख़ास ढंग तथा आयाम समाप्त होते हैं, कहानी नहीं। यदि उपरोक्त कथन के परिप्रेक्ष्य में 'नई कहानियों' के अंत को देखा जाए, तो बात और भी अधिक स्पष्ट होती है। मोहन राकेश की एक ख्याति-प्राप्त कहानी 'मिस पाल' का अन्त जिस ढंग से हुआ है, वहां कहानी समाप्त नहीं होती, बल्कि यह अन्त पाठक को बहुत दूर तक सोचने-समझने का एक आयाम देता है। 'मिस पाल' के हाथ में जो दो खाली डिब्बे हैं, वे उसके शून्य तथा एकान्त जीवन के प्रतीक हैं। वहां यह कहानी केवल वैयक्तिक कहानी ही न रहकर, समष्टिगत मूल्यों की कहानी बनती है। आज का कहानीकार 'कहानी' के प्रभाव को बढ़ाने के लिए शिल्प के नए प्रयोगों की खोज में होता है। वह कहानी का अन्त कभी प्रतीकों एवं बिम्बों, कभी संकेतों, कभी फ़्लेश-बैक के माध्यम से करता है। उषा प्रियंवदा की एक प्रसिद्ध कहानी 'वापसी' का अन्त यों तो सपाट लगता है, किन्तु है वह प्रतीकात्मक एवं सांकेतिक।[1] अपने आपको 'एडजेस्ट' (adjust) कर पाने के कारण, गजाधर बाबू नौकरी से अवकाश प्राप्त करने पर भी पुन: रोजगार की तलाश में निकलते हैं। उनके चले जाने के तुरन्त बाद ही उनके कमरे की खाट बाहर निकाल दी जाती है। यहां खाट एक प्रतीक है—गजाधर बाबू का अवशेष, जिसे वहां के लोग सहन नहीं करते और जिसे हटाना ही एक समस्या बनी है। यहां भी कहानी में एक युग-व्यापी संकेत मौजूद है। गिनने-गिनाने के लिए हमारे हम सब हैं—पत्नी है, बच्चे हैं, भाई हैं·········पर वास्तव में अपना कोई नहीं है। जीवन-यात्रा में हम सब अकेले हैं। इसी

---

1. "गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गई। बची हुई मठरियों को कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लाई और कनस्तरों के पास रख दिया, फिर बाहर आकर कहा, "अरे नरेन्द्र, बाबू जी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।"
—दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 122।

प्रकार दूधनाथ सिंह की कहानी 'आइसबर्ग' का अन्त 'फ्लैश-बैक' के माध्यम से हुआ है[1], जिसमें सम्पूर्ण कहानी का सार तथा व्यापक संकेत निहित हैं। इसके अतिरिक्त कमलेश्वर की 'मांस का दरिया' तथा 'खोई हुई दिशाएं', राजेन्द्र यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' तथा 'लन्दन की एक रात', मोहन राकेश की 'एक और ज़िन्दगी' तथा 'मलबे का मालिक' तथा अन्य अनेक कहानियों के अन्त देखे जा सकते हैं, जो कि युग-बोध के व्यापक संकेत देते हैं। इन कहानियों का अध्ययन करके यह कहना कितना संगत लगता है कि कहानी (नई कहानी) का अन्त नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त 'नई कहानियों' का रचनाकार 'कहानी' का अन्त इतिवृत्तात्मक ढंग से करने में भी हिचकिचाता नहीं है। अमरकान्त की कहानी 'दोपहर का भोजन' इसी प्रकार की एक रचना है। इसके बावजूद, प्रस्तुत कहानी के अन्त में जो स्वाभाविक कथन है वह इसे जीवन के शाश्वत मूल्यों की कहानी बनाता है।

(2) **नई कहानी : पात्र, संवाद तथा वातावरण :** नई कहानी के पात्र' तथा 'संवाद' देखकर भी नई तथा व्यतीत कहानी का अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। व्यतीत समीक्षकों तथा कहानी लेखकों का विश्वास था कि कहानियों में जो भी पात्र आते हैं, वे शुद्ध रूप में वही नहीं होते हैं, जिस रूप में वे जीवन में दिखाई पड़ते हैं।[2] कहानी-सम्राट प्रेमचन्द का भी लगभग यही कथन है कि कहानी के पात्र यथार्थ दीखने पर भी यथार्थ नहीं होते हैं।[3] प्रेमचन्द के कथन का यही आशय निकलता है कि कहानी लिखने के लिए एक 'आइडिया' या 'हिट' चाहिए, जिसे लेखक आगे अपनी कल्पना के अनुसार एक कहानी में बदल देता है। 'उसके कथन में एक क्रम है, चूंकि वह जनता की अदालत के सामने जवाब देय है, इसलिए कहानी में उसको प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य है।

---

1. दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 172-173।
2. "When you build a story around a character do you use the character about as you find him in real life ?" Practically never, things and people as they are in real life won't do for short stories. They are only starting points, spring board."
—Clenn Clark, A.M. : A Manual of Short Story Art, 192 , P. 18.
3. **कुछ बिचार : प्रेमचन्द; पृ० 48।**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यतीत कहानी में शिल्प गढ़ने का एक प्रयास होता था, इसलिए उसके पात्र भी काल्पनिक या अयथार्थ हो सकते थे। चूंकि कहानी की यह धारणा अब बदल गई है, इसलिए 'नई कहानी' पर ये बातें आरोपित नहीं हो सकतीं। जब अयथार्थ चीज को कहानी के माध्यम से यथार्थ दिखाने का प्रयत्न किया जाए, तब वह शैल्पिक धोखे या जादूगरी के सिवा और क्या हो सकता है? 'नई कहानी' का रचनाकार अपने पाठक को धोखा नहीं, बल्कि कहानी के माध्यम से जीवन के यथार्थ पाठकों से परिचय कराना चाहता है। अतः उसके पात्र वे हैं या हो सकते हैं जो कि हमारे जीवन के सहचर के रूप में आते हैं। हमें यहां ऐसे पात्रों से साक्षात्कार होना पड़ता है जो युगीन हैं, जो कहीं-कहीं सामान्य होते हैं। अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' की सिद्धेश्वरी तथा उसका पति सामान्य पात्र हैं। उपरोक्त कहानियों के अतिरिक्त, कमलेश्वर का 'मांस का दरिया' की जुगनू, उषा प्रियंवदा की 'वापसी' के गजाधर बाबू तथा अन्य अनेक कहानियों में भी हमें यथार्थ जीवन के सामान्य पात्र मिलते हैं।

इसके साथ-साथ नए कथाकारों के यहां असामान्य व्यक्तित्वों का चित्रण भी हुआ है। इन अननार्मल पात्रों का व्यक्तित्व भले ही असाधारण हो, किन्तु ये यथार्थ जीवन के वास्तविक पात्र हैं। ये वे पात्र नहीं जो हमें 'प्रसाद' तथा अन्य कहानीकारों के यहां मिलते हैं, बल्कि, "......ये व्यक्तित्व जीवन की यांत्रिकता और यांत्रिक वैज्ञानिक युग के आदमी को बौना बना देने वाली भयानक स्थितियों, छाया-भयों, अर्थहीन होते हुए रिश्तों, मौत और अकेलेपन का जन्य है......(इसीलिए) ऐसी वस्तु वाली कहानियों की शिल्प संरचना भिन्न और अलग स्तर की या सतह से देखने पर असम्बद्ध और विरोधी सूत्रों वाली होगी......।"[1] इस सन्दर्भ में मोहन राकेश की कहानी 'मिस पाल' की 'मिस पाल' तथा 'एक और जिन्दगी' की निर्मला, निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' की लतिका, फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'टेबुल' की नायिका तथा ऐसी ही अनेक रचनाओं में हमें असामान्य पात्रों से परिचय होता है।

'नई कहानी' के पात्रों का नामकरण किसी विशेष आग्रह के आधार पर नहीं होता है। इन पात्रों के नाम लगभग वैसे ही होते हैं, जैसे इस यथार्थ जगत मे वे पाए जाते हैं। व्यतीत कहानीकार की तरह उसे कोई पूर्वनिर्धारित 'फार्मूला' अपनाना नहीं पड़ता है।[2] कई कहानियों में 'पात्रों' का नामकरण

---

1. नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र।
2. "पात्रों के नाम ऐसे होने चाहिएं जिनकी वर्णमैत्री में संगति हो और **उच्चारण करने में मुख को किसी प्रकार का व्यायाम न करना पड़े, जो**

करने की आवश्यकता महसूस ही नहीं की गई है, बल्कि संपूर्ण कहानी 'प्रथम पुरुष' या 'उत्तम पुरुष' में ही कही गई है। मार्कण्डेय की 'दूध और दवा,' कमलेश्वर की 'बयान', निर्मल वर्मा की 'डेढ़ इंच ऊपर' तथा अन्य अनेक कहानियों के पात्र नामकरण-विहीन हैं।

संवादों के धरातल पर भी 'नई कहानी' को पुरानी कहानी से अलगाया जा सकता है। व्यतीत कहानी में संवाद अलंकार या चमत्कार के तौर पर प्रयुक्त होते थे। इनका प्रयोग भी किसी निश्चित सिद्धांत के आधार पर हुआ करता था, किन्तु 'नई कहानी' तक आते-आते हिन्दी-कहानी की यह धारणा बदल गई है। अब संवाद कहानी में अलंकरण के रूप में या चमत्कार लाने के लिए प्रयुक्त नहीं होते हैं, बल्कि कहानी को यथार्थ जीवन के समीप लाने के लिए यह कहानीकार के हाथ में एक महत्वपूर्ण अस्त्र है। व्यतीत कहानी की तरह इनका प्रयोग अब 'कहानी' के आरम्भ में ही नहीं किया जाता है, बल्कि ये अब प्रायः कहानी की शुरुआत के बाद और विशेषकर कहानी के मध्य या अन्त में प्रयुक्त होते हैं। संवादों का प्रयोग करने के लिए लेखक की अनुभवपरक सक्षम दृष्टि अपेक्षणीय है। वह स्थिति के अनुसार कभी संक्षिप्त तो कभी लम्बे वार्तालापों का प्रयोग करता है। उसके संवाद भावात्मक या अलंकृत नहीं होते हैं, बल्कि व्यावहारिक होते हैं। प्रसाद की कहानियों में (जैसे 'आकाश दीप') संवादों का प्रयोग चमत्कार लाने के लिए हुआ है, जबकि 'संकट' या 'सुख' जैसी कहानियों के संवाद अत्यंत व्यावहारिक हैं।[1] दूसरे शब्दों में, नई कहानी के संवाद सच्चाई और वास्तविकता लिए हुए हैं। उपरोक्त कहानियों के अतिरिक्त कमलेश्वर की 'मांस का दरिया' तथा 'खोई हुई दिशाएं', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', राजेन्द्र यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल' और खेल-खिलौने', मोहन राकेश की 'एक और जिन्दगी' तथा 'मिस पाल', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' तथा ऐसी ही दूसरी कहानियों के अनुभूतपरक संवाद दृष्टव्य हैं। चूंकि 'नई कहानी' का रचनाकार किसी विशेष रूढ़ि का शिकार नहीं है, इसलिए वह स्थिति के अनुसार संवादों का प्रयोग न करने से भी हिचकिचाया है।

सुखपूर्वक उच्चरित और व्यवहृत हो सके······।"

—कहानी का रचना-विधान : जगन्नाथ प्रसाद शर्मा; पृ० 113।

1. "शंकर ! यों जाना तो मुझे परसों था, लेकिन सोचता हूं, कल ही चला जाऊं। जैसी मलेटरी, वैसा घर ! टिट फार टाइट।"

—लोग बिस्तरों पर : काशीनाथ सिंह; पृ० 16।

निर्मल वर्मा की कहानी 'डेढ़ इंच ऊपर' में एक ही पात्र आदि से अन्त तक आता है और उसको कहीं भी किसी से वार्तालाप करने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई है। उक्त विवेचना का संक्षेप यह है कि कहानी में अब चमत्कार-प्रदर्शन तथा सिद्धान्त-विवेचन करने वाले संवाद नहीं चल सकते हैं। आधुनिक कहानियों में संवाद तत्त्व के सुन्दर ग्रंथन की ओर विशेष प्रवृत्ति दिखाई देती है।

कहानी के प्रभाव को गहराने के लिए 'नई कहानी' के रचनाकारों ने वातावरण का भी सहारा लिया है। व्यतीत कहानी में इसका प्रयोग प्रसाधन के रूप में हुआ करता था, ताकि इसमें सौन्दर्य, कल्पना तथा औत्सुक्य बना रहे—ताकि पाठक को कुछ देर के लिए 'बोर' होने से बचाया जाए। वातावरण की दृष्टि से जयशंकर प्रसाद की कहानियों का स्मरण अब भी किया जाता है। इस सन्दर्भ में उनकी 'सलीम', 'सालवती', 'आकाश-दीप' तथा दूसरी कहानियों को देखा जा सकता है जो कि काल्पनिक तथा कुतूहलवर्धक वातावरण की सृष्टि करते हैं। 'पुरानी कहानी' के समर्थक जगन्नाथ प्रसाद शर्मा कहानी में वातावरण की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहते हैं कि, "कहानी को पढ़ लेने के उपरान्त चित्त कहीं करुणा की तरलता से द्रवित हो उठता है, कहीं कुतूहल और आश्चर्य में बुद्धि पड़ जाती है, कहीं कल्पना की रंगीनी से मन विस्मय-विमुग्ध हो उठता है और कहीं प्रेमवात्सल्य की सरसता छायी मिलती है।"[1] नई कहानी के रचनाकारों ने 'कहानी-साहित्य' में इसकी सृष्टि की है, किन्तु दूसरे अर्थ में। व्यतीत कहानीकार जिस दृष्टिकोण को लेकर वातावरण की सृष्टि करता था, वह, यदि सुरेन्द्र के शब्दों में कहा जाए, एक 'फ्रॉड' था। अब का कहानीकार चूंकि कहानी को जीवन के अति समीप लाने का प्रयत्न करता है और पाठक को इसके यथार्थ से अवगत कराने का प्रयत्न करता है। इसलिए 'नई कहानी' में जिस वातावरण की सृष्टि की जाती है, वह प्रसाधन के तौर पर नहीं, बल्कि लेखक आवश्यकता के तौर पर इसका सहारा लेता है। नई कहानी-लेखकों के हाथों में यह एक ऐसा शस्त्र है, जिससे वे युग के प्रश्नों-अप्रश्नों, समस्याओं, विडम्बनाओं, आदमी-आदमी के बदलते रिश्तों, आज के व्यक्ति में व्याप्त शून्यता, एकाकीपन, निराशा, व्यथा तथा दूसरी ऐसी बातों से परिचित कराने में सुगमता महसूस करते हैं। इसलिए आज की कहानी हमें एक वातावरण से अवगत कराती है, उसको कहानी में

1. कहानी का रचना-विधान : डॉ॰ जगन्नाथ प्रसाद शर्मा; पृ॰ 186।

एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अब वातावरण का प्रयोग कहानी में इसकी प्रधानता लाने के लोभ से भी नहीं किया जाता है।

अतः 'नई कहानी' में वातावरण का जो योगवाही रूप होता है, उसका एक विशिष्ट अर्थ होता है। सजीव वातावरण के लिहाज से निर्मल वर्मा ने कई श्रेष्ठ कहानियां लिखी हैं। उनकी एक ख्याति-प्राप्त कहानी 'परिन्दे' में वातावरण की जो सृष्टि की गई है, उससे कहानी के मूल-स्वर को तीव्र करने में काफी सहायता मिलती है—अपने दिवगत प्रेमी मिस्टर नेगी की याद से उत्पन्न मिस लतिका की मानसिक व्यथा, शून्यता, एकाकीपन का दर्द उभारने में। इसी प्रकार 'दोपहर का भोजन' में जिस वातावरण की सहज रूप से सृष्टि हुई है उससे निम्न-मध्यवर्ग के संकट-बोध का परिचय होता है। प्रस्तुत कहानी में सिद्धेश्वरी, उसके पति तथा उनके लड़कों की जठराग्नि शांत होने के चिन्ह दिखाई नहीं देते, ठीक उसी तरह जिस तरह कड़कती धूप में पानी बरसने के आसार दिखाई नहीं देते हैं। कहानी पढ़कर ऐसा लगता है कि जठराग्नि का बिम्ब वातावरण पर छाया हुआ है। इस प्रकार वातावरण के माध्यम से प्रस्तुत कहानी एक परिवार की ही कहानी न रहकर, समष्टिगत संकट-बोध कराने वाली सशक्त कथाकृति बनी है। दूधनाथ सिंह की कहानी 'आइसबर्ग' में भी वातावरण की सृष्टि हुई है। प्रस्तुत कहानी का नायक विनय अपनी पत्नी के व्यवहार से इतना टूटा कि वह न केवल उससे, बल्कि अपने सगे-सम्बन्धियों से भी अलग हुआ। यहां कहानीकार ने जिस वातावरण को दिखाया है, उससे विनय की मानसिक व्यथा, एकाकीपन, शून्यता तथा विसंगति-बोध के संकेत मिलते हैं। 'आइसबर्ग' की ही तरह मोहन राकेश की कहानी 'मिस पाल' में भी जो वातावरण दिखाया गया है, उससे मिस पाल के निरुद्देश्य जीवन व्यतीत करने के संकेत मिलते हैं।

वातावरण को महत्व देकर भी नया कहानीकार इसके लिए ही कहानी नहीं लिखता है। इसका कारण यह है कि कहानी उसके लिए एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसमें वातावरण की वस्तु-स्थिति के अनुसार स्वयं ही सृष्टि होती है। कई कहानी-लेखकों को कभी-कभी वातावरण दिखाने की आवश्यकता तक भी महसूस नहीं हुई है (जैसे दूध और दवा—मार्कण्डेय)। ऐसे स्थानों पर कहानी-लेखक निबन्धकार की तरह गूढ़ शैली में अपनी संवेदना सम्प्रेषित करने का प्रयास करता है। यहां यही बात स्पष्ट होती है कि कहानी को पूर्व-निर्धारित अवयवों में काटकर देखा नहीं जा सकता, क्योंकि यह इस प्रकार सीमित कटघरों में कैद हो जाती है और उसके साथ न्याय नहीं हो पाता है। वास्तव में आज का लेखक फार्मूला-बद्ध लेखक नहीं है। "फार्मूला लेखक

वही होता है, जो नए-नए जीवनानुभवों में चुकते हुए कहीं ठहर जाता है ......जो जीवन के सत्य की प्रामाणिक अभिव्यक्ति नहीं दे पाता और उसके लिए नए मुहावरे की तलाश में पीछे छूट जाता है......कहानियों में उसकी हालत उस अधेड़ महिला की तरह होती है, जो बढ़ती हुई उम्र से घबराकर युवती दीखने के लिए शृंगारिक प्रसाधनों में एक अरसे के बाद हास्यास्पद होने लगती है......।"[1]

(ग) साठोत्तरी हिन्दी-कहानी : शिल्पहीन शिल्प की कहानी

'नयी कहानी' का जो रूप हिन्दी कहानी के जगत् में सन् '50 तथा इसके बाद के वर्षों में उभरकर आया, साठोत्तरी कहानी में उसमें कई महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। वास्तव में यह परिवर्तन 'नई कहानी' का विकास माना जा सकता है।

'नयी कहानी' का रचनाकार जिस शिल्प, संवेदना तथा दृष्टि को लेकर कहानी-क्षेत्र में आया था, साठोत्तरी कहानीकार ने उसी शृंखला को सुदृढ़ बनाने के लिए एक महत्वपूर्ण कार्य किया, किन्तु एक अलग माइने में। चूंकि इन कहानी-लेखकों को हिन्दी कहानी के साहित्येतिहास में स्थापित होना भी था, इसलिए व्यतीत दशक की रचनात्मक उपलब्धियों का तिरस्कार करना भी उनके लिए कुछ हद तक स्वाभाविक था। पीढ़ियों के संघर्ष के पीछे यह एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है कि वे साहित्येतिहास में स्थापित होने के लिए अपनी परवर्ती पीढ़ी से तिरस्कारपूर्ण रुख अपनाते हैं। नयी कहानी के रचनाकारों ने भी अपने आपको स्थापित करने के लिए पुरानी कहानी के रचियताओं से भी इसी प्रकार का रुख अपनाया था, या कहें इससे कहीं बहुत अधिक। यही हाल साठोत्तरी कहानीकारों का भी था।

उपरोक्त मनोवैज्ञानिक सत्य के अतिरिक्त और भी कई कारण थे, जिन्होंने साठोत्तरी कहानीकारों को कहानी के शिल्प में परिवर्तन लाने के लिए बाध्य किया। 'नयी कहानी' के रचियताओं तथा साठोत्तरी कहानीकारों की पृष्ठभूमियां भिन्न-भिन्न थीं। व्यतीत दशक का कहानीकार संक्रान्ति के युग से गुजरा था। उसने आज़ादी से पूर्व का समय देखा था और वह अब स्वातंत्र्योत्तर काल भी देखता आ रहा है। आज़ादी से पूर्व उसने जिस भारत की कल्पना की थी, जो रंगीन सपने उसने स्वतंत्र भारत के देखे थे, उनका कोई भी साम्य उसके यथार्थ स्वतंत्र भारत में नहीं दिखाई देता था। उसने

1. नयी कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 53।

अपने चारों ओर जो कुछ देखा, उससे उसका मोहभंग हुआ। इसके विपरीत साठोत्तरी कहानीकार वे लोग थे, जिसमें से अधिकांश आजादी से कई वर्ष पूर्व या 1947 में ही पैदा हुए। उनका पालन-पोषण हुआ, प्रोढ़ावस्था पाई—स्वतंत्र भारत में। अपने देश में उन्होंने जो कुछ देखा, उसका चित्रण उन्होंने अपनी रचनाओं में बड़ी सूक्ष्मता से यथार्थ के धरातल पर किया। इस संदर्भ में साठोत्तरी प्रतिनिधि कहानीकार रवीन्द्र कालिया का यह कथन यहां कहना असंगत न होगा कि साठोत्तरी कहानीकार ने अपने चारों ओर "भ्रष्टाचार, जातिवाद, भाई-भतीजावाद, प्रान्तीय संकीर्णताओं, गुटबन्दी, बेरोजगारी, नौकरशाही के घृणित परिणाम ही देखे और अपने को बीस तरह के निषेधों से घिरा पाया। उसे यह सुनकर हैरानी हुई कि इससे पूर्व एक 'पुनर्जागरण' भी हो चुका है। उसने पाया कि विवेक और व्यवहार, कार्य और कारण, अपराध और सज़ा, शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध निरन्तर टूटता जा रहा है, जीवन प्राणशक्ति से हीन हो रहा है, यथार्थ अयथार्थ का भ्रम देने लगा है, शब्द केवल ध्वनि बनकर रह गए हैं। नास्टेल्जिया, दुःख-दर्द, ग़रीबी, भय, आशंका, घृणा, बोरडम, दहशत, बेरोजगारी और अपमान के बीच उसका जन्म और विकास हुआ है. और विरासत में मिले हैं—कहानी-लेखन तथा जीवन-दृष्टि के कुछ पुख्ता और टिकाऊ फार्मूले।"[1]

जब परिस्थितियां बदलीं तब जीवन तथा साहित्य के प्रति लेखक के 'एप्रोच' में परिवर्तन आना भी स्वाभाविक था। यों तो आज के परिवर्तनशील युग में कोई भी जीवन-मूल्य या साहित्यक धारणा शाश्वत प्रमाणित नहीं हो सकती। अतः साठोत्तरी हिन्दी-कहानी में जो परिवर्तन आया, वह एक स्वाभाविक क्रिया थी। इसी बात की ओर संकेत करते हुए डा० धनजय कहते हैं, "कहानी का परिवर्तन मौजूदा परिवर्तनों—समाजगत और मूल्यगत—की ही एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। वस्तुतः कहानी का बदलाव जीवन-प्रक्रिया का ही बदलाव है। जीवन का संकट चूंकि अब दूसरी तरह का है, आधुनिक परिवेश में व्यक्ति की सच्चाइयां और तरह की हैं, इतिहास से लगाव भी भिन्न तरह का है इसलिए कहानी की केन्द्रीय स्थिति तथा उसकी रचना-पद्धति में भी परिवर्तन आया है। बदले हुए परिवेश तथा नयी संवेदना का मतलब आज की कहानी को नए सिरे से निकालना पड़ा है।"[2]

× × ×

1. आज की कहानी : यथार्थ का स्वरूप—रवीन्द्र कालिया, दे० समकालीन कहानी : सं० डॉ० धनंजय; पृ० 176।
2. समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि—डॉ० धनंजय; पृ० 13-14।

उपरोक्त कथन की पृष्ठभूमि में यदि साठोत्तरी कहानी के शिल्प पर दृष्टिपात किया जाए तो श्री सुरेन्द्र का यह कथन पुन: दोहराना पड़ता है कि कहानी का सम्बन्ध कहानी के "वस्तु-बोध के आन्तरिक रचाव का अनिवार्य प्रतिफलन ही नहीं है, उसका पृक्त आकार भी है, जब अपने आंतरिक रचाव का तनाव झेलती हुई कथा (या कोई भी रचना) एक ख़ास मिज़ाज पकड़ लेती है, तब यह मिज़ाज उसकी नितान्त अपनी अनिवार्य मांग होता है, लेकिन उससे (कथा अनुभव-केन्द्र से) पूरे तौर पर एक नहीं होता और अलग इसलिए नहीं होता क्योंकि वह वही नहीं है यानी उसका महज़ शिल्प होने से अर्थ नहीं बूझा जा सकता……।"[1] उपरोक्त कथन की दृष्टि को ध्यान में रखकर साठोत्तरी कहानी का शिल्प कुछ सुगमता से समझाया जा सकता है।

व्यतीत दशक की 'कहानी' की तरह ही साठोत्तरी कहानी भी परंपरागत शास्त्रीय-पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न अवयवों में काटकर आलोचित नहीं की जा सकती। कारण यह है कि आज का कहानी-लेखक जिस यथार्थ की सृष्टि अपनी 'रचना' में करता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म और सही होता है। दूसरे शब्दों में कहानी अब यथार्थ से बनती है। इसका मतलब यही है कि साठोत्तरी कहानी में अनुभव की प्रामाणिकता है। यों तो 'नई कहानी' रचियताओं ने भी 'नयेपन', 'अनुभव की प्रामाणिकता'……आदि जैसे शब्दों पर ज़ोर दिया था, किन्तु "नयी कहानी में प्रामाणिकता की बात महज़ एक नारा बन गई।"[2]

साठोत्तरी कहानी के लिए कहानी में 'कथानक' या 'कहानीपन' जैसे शब्दों के लिए कोई गुंजाइश नहीं है और न ही इसमें किसी प्रकार का उतार-चढ़ाव ही होता है। यों तो व्यतीत-दशक के कई कहानीकारों तथा आलोचकों ने भी कहानी में एक सुनियोजित कथानक होने पर बल नहीं दिया था, किन्तु उनमें से कई कहानियां इस आरोप से बची नहीं हैं, जैसे मन्नू भंडारी की 'तीसरा आदमी' और 'यही सच है' तथा ऐसी ही दूसरी रचनाएं। इन कहानियों में उतार-चढ़ाव कहीं-कहीं है जो कि पाठक का औत्सुक्य तत्त्व स्थापित करता रहता है। इसके विपरीत साठोत्तरी कहानी में कथानक का यहां तक ह्रास हुआ है कि आलोचक उसे कहानी नहीं स्वीकारते हैं[3], और वह कई

1. नयी कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 74।
2. समकालीन कहानी : डॉ० धनंजय; पृ० 13।
3. ''अ-कहानी' वस्तुतः निषेध तथा अस्वीकार की रचना है। निमर्म अस्वीकार—प्रचलित रचनागत मूल्यों, कथा धारणाओं और अभिव्यक्ति

लोगों को कहानी भी दिखाई नहीं देती है। साठोत्तरी कहानी में (विशेषकर अकहानी में) "केवल कुछ छोटे-छोटे टुकड़े हैं, छोटे-छोटे चित्र हैं, अख़बार की कतरनों की तरह कुछ प्रसंग—अधूरे-अधूरे से, जिन्हें यों ही बिना किसी सिल-सिले के जमा कर दिया गया है, और इन सबसे कहानी एक प्रभाव, एक बिम्ब उपस्थित कराती है।"[1] दूसरे शब्दों में, साठोत्तरी कहानी बिना किसी कार्य-कारण शृंखला में जकड़ी नहीं रहती। "अपने बिखराव और असम्बद्धताओं में भी वह इतनी संहृत है कि उसका सारांश नहीं किया जा सकता। किसी एक वाक्य, किसी एक घटना, किसी एक चरित्र अथवा किसी एक उपकरण से उसका रचनात्मक संगठन नहीं हुआ, इसलिए वह अपने समूचे रूप में ही सार्थक है, उसका एक-एक रेशा महत्वपूर्ण है।"[2] इस संदर्भ में कई साठोत्तरी कहानियों का जायज़ा लेना असंगत नहीं होगा। रवीन्द्र कालिया की एक ख्याति-प्राप्त कहानी 'नौ साल छोटी पत्नी' का कथानक शून्य के बराबर है। प्रस्तुत कहानी का 'कुशल' दुकान से सवेरे लौटकर अपनी पत्नी तृप्ता के सामने बनता है। वास्तव में वे एक-दूसरे के प्रति तटस्थ हैं। तृप्ता सहेली की कहानी के माध्यम से अपनी 'प्रेम की कहानी' कहती रहती और अपने प्रेम-पत्रों से भरी अटैची को ड्राइंग रूम में चारपाई के नीचे खिसकाती रहती है, पति भी उस अटैची को एक-दो बार खिसकाता है। वास्तव में वह उन पत्रों को पढ़ भी चुका है। फिर भी वह अपनी पत्नी तथा उन पत्रों के प्रति तटस्थ है। कहानी का यह उपरोक्त भाव रचना-प्रक्रिया पर इतनी स्वाभाविकता से चलता है कि लेखक को अपनी ओर से बहुत ही कम या कुछ भी नहीं कहना पड़ता है। कहानी की 'कहानी' इतनी सूक्ष्म तथा यथार्थ है कि कोई भी स्थल पाठक के मस्तिष्क में नहीं छा जाता है या कोई भी ऐसा महत्वपूर्ण या सारगर्भित संवाद कहानी में नहीं है, जिसे उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया

के पुराने, जड़ और शिथिल आयामों का। 'अकहानी' का 'अ' अस्वीकृति-बोधक है।"

—कहानी : प्रसन्न कुमार ओझा, दे० स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : सम्पादक डॉ० महेन्द्र भटनागर।

1. परम्परा और परम्परा से मुक्ति : वीर भारत, दे० समकालीन कहानी : सं० डॉ० धनंजय; पृ० 134।
2. आज की कहानी : यथार्थ का स्वरूप – रवीन्द्र कालिया, उपरिवत्; पृ० 175।

जाए। कहानी केवल एक प्रभाव या एक बिम्ब उपस्थित करती है जो कि पाठक पर कुछ देर के लिए छा जाता है।

वास्तव में साठोत्तरी कहानीकार की दृष्टि तथा संवेदना में अन्तर आया, जिसने स्वभावत: कहानी के 'फार्म' में भी परिवर्तन उपस्थित किया। "यों पूरी की पूरी पीढ़ी की कहानियों में सामान्य धरातल पर जो मुख्य अन्तर है, वह यह है कि जहां सन् '60 के पहले की कहानियों में एक स्पष्ट सामाजिक दृष्टि का आग्रह था अथवा 'मूल्यों की खोज बनाम भविष्यवाद' था, उसका सन् साठ के बाद की कहानियों में प्राय: लोप हो गया। यथार्थ को उसके निर्मम रूप में सन् '60 के बाद की कहानियों में चित्रित किया गया है।"[1] इस यथार्थ के प्रति भी साठोत्तरी हिन्दी-कहानीकार की अपनी परिभाषा है। चूंकि व्यतीत दशक के कहानी-लेखकों की अपेक्षा, वह अस्तित्ववाद के चिन्तन से अधिक प्रभावित है, इसलिए भूत और भविष्य से कटा वह वर्तमान के क्षण में जी रहा है। परिणामस्वरूप वह उसी क्षण को सच मानता है, जिससे उसका पाला पड़ता है। अत: वर्तमान के क्षण की कहानी में सुनियोजित कथानक कहां होगा ? उसका 'कहानीपन' से भरा कथानक कहां आएगा, जिससे पाठक की यह जिज्ञासा शांत हो कि 'आगे क्या होगा'। यही कारण है कि साठोत्तरी कहानीकार कहानी में 'किस्सागोईपन' तथा इसमें 'अनावश्यक विस्तार' देने का कट्टर विरोधी है।[2] इस प्रकार साठोत्तरी कहानी 'वर्तमान' की कहानी कहलाई जा सकती है, जो सुनहरे भूत या स्वप्निल भविष्य का काल्पनिक भ्रम उत्पन्न नहीं करती है। साठोत्तरी कहानी के माध्यम से हमें जीवन के प्रति सहज 'एप्रोच' सर्वत्र मिलता है। कथाकार की अपनी रचना के प्रति तटस्थ दृष्टि रहती है और पाठक को बिना किसी हस्तक्षेप के जीवन को नजदीक से देखने का अवसर मिलता है। 'तटस्थता' तथा 'सूक्ष्म यथार्थ' की दृष्टि से काशीनाथ सिंह की कई रचनाओं को देखा जा सकता है। उनकी

---

1. परम्परा और परम्परा से मुक्ति : वीर भारत, दे० समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि—सं० डॉ० धनंजय; पृ० 133।
2. "किस्सागोई की कहानी किसी निर्णय के क्षण की कहानी नहीं होती, किसी दूसरे के निर्णय की मुखापेक्षी रहती है, जबकि आज की कहानी निर्णय के क्षण की कहानी है, वह निर्णय चाहे अनिर्णय के निर्णय का ही क्यों न हो।"

   —आज की कहानी : यथार्थ का स्वरूप—रवीन्द्र कालिया, दे० समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि—सं० डॉ० धनंजय; पृ० 174।

एक कहानी 'संकट' का प्रधान पात्र 'राधो' कई दिन की छुट्टियां लेकर अपने गांव आया, जहां उसे मालूम हुआ कि उसकी पत्नी ने एक लड़के को जन्म दिया है। राधो अनेक वर्षों से सेना में रहा है जो वर्ष में कई दिन की छुट्टियां लेकर एक बार घर आता है। सेना में अस्त्र-शस्त्र चलाते-चलाते यदि वह स्वयं एक अस्त्र बना हो, तो कोई ताज्जुब नहीं। इसलिए ऐसा व्यक्ति बेटा होने पर किस प्रसन्नता का अनुभव करेगा, वह 'भावना' तथा 'संवेदना' जैसे शब्दों का अर्थ क्या जानता होगा। वास्तव में वह भरी बन्दूक की तरह आया था और गोलियां छोड़कर कुछ हलका होना चाहता था, किन्तु यहां आकर उसका निशाना चूक गया। परिणामस्वरूप उसने अपनी पत्नी को मारना-पीटना शुरू किया, अपने नवजात बच्चे को भी गालियां देना आरम्भ किया।[1] अन्ततः वह निराश होकर छुट्टियों से पहले ही ड्यूटी' पर जाने के लिए सोच-विचार करने लगा। प्रस्तुत रचना का कहानीपन इतना सूक्ष्म है कि उसका सार किया ही नहीं जा सकता है। उपरोक्त कथन वैचारिक स्तर पर नहीं, बल्कि कलात्मक स्तर पर कहानी में आ गया है। शायद ही कोई ऐसी बात होगी जो लेखक को अपनी ओर से समझानी पड़ी हो। कहानी की भाषा असलियत और ईमानदारी की भाषा है। भाषा के स्तर पर भी इसमें किसी भी प्रकार का चमत्कार दिखाई नहीं देता है।

वास्तव में साठोत्तरी कहानीकार जीवन से प्राप्त अनुभवपरक कहानियां लिखता है। कहानी के माध्यम से वह जीवनानुभव सम्प्रेषित करना चाहता है, जो कि प्रायः क्षणिक होता है—उस क्षण का जिसमें हम जी रहे हैं। "आज की कहानी का 'सत्य' कहानीकार की यह अनुभूति है कि 'अन्तिम परिणति' कुछ नहीं होती, छोटी-छोटी यातनाएं उसे विचलित नहीं करतीं, न ही वह उन्हें 'मैग्नीफाइंग' ग्लास से देखता है। छोटी-छोटी घटनाएं केवल छोटी घटनाएं हैं, उन्हें बढ़ाकर दिखाना (ढेर-सी रोमांटिक कहानियों की तरह) मूर्खता है। अत: इन कहानियों का स्वर हमेशा एक उपेक्षा और एक सपाट खुरदुरा व्यंग्य रहता है। यह बोध न तो निराशावादी है, न पलायनवादी, बल्कि एक ठोस यथार्थ बोध है।"[2] काशीनाथ सिंह की 'आखिरी रात'

1. "......अगर इस साले बच्चे को होना ही था तो क्या यह दो-चार महीना आगे-पीछे नहीं हो सकता था......उसे मेरी छुट्टी में ही होने की क्या जरूरत थी ?"
   —लोग बिस्तरों पर : काशीनाथ सिंह; पृ० 15।
2. परिवर्तन की प्रक्रिया : विजयमोहन सिंह, दे० समकालीन कहानी : सं० डॉ० धनंजय; पृ० 128-29।

तथा 'अपने घर का देश', ज्ञानरंजन की 'शेष होते हुए', श्रीकान्त वर्मा की 'शवयात्रा', दूधनाथ सिंह की 'रक्तपात', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी', सोमेश्वर की 'चीज़ें कितनी तेज़ी से बदल जाती हैं', छत्रपाल की 'ललितादित्य के मार्तंड' व 'रोशनी से दूर' तथा अन्य अनेक हिन्दी की साठोत्तरी कहानियां हैं, जिनमें कहानीपन शून्य के बराबर है और सहज ही उन्हें नयी कहानियों से अलगाया जा सकता है।

चूंकि कहानी अब यथार्थ से बनती है, इसलिए साठोत्तरी कहानी-साहित्य के पात्र भी यथार्थ की ही उपज हैं। ये वे पात्र हैं जो कि हमें अपने जीवन के चारों ओर घूमते-फिरते दिखाई देते हैं। ये पात्र प्रायः मध्यवर्ग से आते हैं, जो कि प्रायः सामान्य हैं। एक समय था जबकि आदर्शवादी पात्रों का निर्माण होता था और अब 'फेटिड' (अभिशप्त) पात्र ही कहानी की राह से अक्सर गुज़रते दिखाई देते हैं। समाज में तथा सश्लिष्ट जीवन में इनकी कोई 'आइडेंटिटी' नहीं है, इसलिए ये सामाजिक न होकर वैयक्तिक लगते हैं। इस संदर्भ में बच्चन सिंह का यह कथन दृष्टव्य है "(साठोत्तरी कहानी का) चरित्र 'वह' है, 'मैं' नहीं। इसकी दो स्थितियां हैं—कभी लगता था सभी ने उसे छोड़ दिया है, अब लगता है कि उसी ने अपने को छोड़ दिया है। पहली स्थिति में समाज से उसका कटाव समग्र और पूर्ण है—अपने से भी कटकर। अपने से कटने का अर्थ है—आत्म-बोध से कटना। उसमें न आत्मानुभव रह गया है, न विचार, न भाव न निर्णय। वह एक पदार्थ रह गया है। पदार्थ को आत्म-बोध नहीं होता है। अपनी इस नियति के कारण वह मनुष्य नहीं रह गया है............।"[1] बच्चन सिंह का उपरोक्त कथन कई साठोत्तरी कहानियों के पात्रों को देखकर सहज ही पुष्ट होता है। रवीन्द्र कालिया की कहानी 'नौ साल छोटी पत्नी' में जिस मध्यवर्गीय दाम्पत्य-जीवन की एक झलक दिखाई गई है, उससे स्पष्ट होता है कि कुशल (पति) तथा तृप्ता (पत्नी) एक-दूसरे के प्रति कोई आकर्षण या प्रेम-भाव रखे हुए नहीं हैं। पति-पत्नी के सम्बन्धों में जो भावनात्मक स्थिति रही है, आज इस स्थिति में परिवर्तन आया है। प्रस्तुत कहानी में तृप्ता (पत्नी) सहेली की कहानी के माध्यम से अपनी 'प्रेम-कहानी' कहती रहती है और अपने प्रेम-पत्रों से भरी अटैची को ड्राइंग रूम में चारपाई के नीचे खिसकाती रहती है। पति भी उस अटैची को एक बार खिसकाता है। इतना ही नहीं, उन पत्रों

---

1. गुमशुदा पहचान की तलाश : बच्चन सिंह—समकालीन कहानी : 'दिशा और दृष्टि' में संकलित।

को वह पढ़ भी चुका है। फिर भी वह तटस्थ है। इसी प्रकार राजकमल चौधरी की कहानी 'दाम्पत्य' का नायक राजनाथ शर्मा अपनी पत्नी के प्रति तटस्थ दिखाई देते हैं। विदेश से लौटने पर राजनाथ को मालूम हुआ कि उसकी उर्मिला ने वेश्यावृत्ति धारण कर ली है और उसने एक अवैध लड़के को जन्म भी दिया है। इसके बावजूद उसने उर्मिला के साथ जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया—बिना यह पूछे कि वह इतने दिन किस-किस के साथ रही, वह अवैध बच्चा किसका था······इत्यादि। राजनाथ ने अतीत पर लोहे का दरवाज़ा लगाया है और अब वह उर्मिला से न रुष्ट है, न तुष्ट। वह केवल उसके प्रति तटस्थ है। ज्ञानरंजन ने 'शेष होते हुए' में जिस मध्य-वर्गीय परिवार के सदस्यों को दिखाया है, वहां भी यह तटस्थता दिखाई देती है, विशेषकर नई पीढ़ी के सदस्यों में। यहां सगा भाई अपने भाई से इतनी बेरुखी से मिलता है कि उनके मिलने में न कोई उत्साह है, न ही प्रेम। बड़ा भाई अपने छोटे भाई के प्रति केवल तटस्थ है। पात्रों की यह तटस्थता दूधनाथ सिंह की कहानी 'आइसबर्ग', रवीन्द्र कालिया की 'एक डरी हुई औरत', विजय चौहान की 'एक सर्द खामोशी' तथा अन्य अनेक कहानियों में देखी जा सकती है।

वैयक्तिक होने के बावजूद साठोत्तरी कहानीकारों के पात्र उतने वैयक्तिक भी नहीं दिखाए गए हैं, जितने कि नयी कहानी के रचनाकारों ने। इसका कारण यह है कि अब रचनाकार सामान्य पात्रों को ही दिखाता है, जो किसी न-किसी रूप में, अपने आपको दूसरों से अलग नहीं रख सकते हैं। इसलिए साठोत्तरी कहानीकार जिस वैयक्तिक-बोध की बात करते हैं, उसमें 'नयी कहानी' के मुकाबले में अधिक प्रामाणिकता है। 'नयी कहानी' के पात्रों की तरह ही साठोत्तरी कहानीकार आदर्शवादी पात्रों को गढ़ता नहीं है। यहां यह कहना असंगत न होगा कि कहानी-साहित्य में 'आदर्शवाद' जैसी चीज़ कबकी मर चुकी है। जब समाज में हमें आदर्शवादी लोग दिखाई ही नहीं देते हैं, तो साठोत्तरी कहानीकार उन्हें किस स्वर्ग से घसीटकर लायेगा और कहानी-रचना में उन्हें स्थान देगा? इस धारणा के अनुरूप ही आज की कहानी का पात्र समस्याओं को सुलझाने के बदले उनका भोग करते दिखाया गया है। अपनी ही समस्याओं में उलझा हुआ आज का कहानी-पात्र निजी 'आइडेंटिटी' समाज में खो चुका है, तब ऐसी स्थिति में हमें सामाजिक-बोध से आक्रान्त पात्र कहां से मिलेंगे। "एक भूख से मरता हुआ इन्सान घोर असामाजिक है, क्योंकि वह भूख से मरने के अलावा समाज के विकास में

कोई योग नहीं देता।"[1]

कुल मिलाकर साठोत्तरी हिन्दी कहानी का पात्र कहानी में घसीटा नहीं गया है, बल्कि यथार्थ पात्र ही कहानी की सृष्टि करता है। यथार्थ पात्र होने के कारण उसका बोलचाल, कार्यकलाप, व्यवहार......सब कुछ सामान्य रूप से कहानी में आता है। साठोत्तरी कहानीकार का पात्र परिचयहीन है—न उसका हुलिया ही होता है और न पेशा ही। कहीं-कहीं उसका नाम तक भी ग़ायब होता है। इन पात्रों की कोई 'आइडेंटिटी' नहीं है, बल्कि वे 'आउट-साइडर' हो गये हैं। वे एकदम अकेले हैं। यही उनकी नियति है। अब वे समाज या मानवता के बारे में नहीं सोचते, उन्हें अपनी संस्कृति के बारे में भी सोचने-समझने की चिन्ता नहीं है। यदि वे सोचते हैं तो अपने बारे में। "इन पात्रों (यदि वे सचमुच ये पात्र हैं तो) को इसलिए पढ़ने के बाद कहानी का शीर्षक या घटना याद नहीं रहती—ज़्यादा से ज़्यादा यह कि सम्बन्ध क्या थे; या फिर वह पात्र दिमाग़ में रह जाता है, जो अनुपस्थित है...... (यह कहानी) कभी-कभी अन्योक्ति (एलेगरी) मालूम पड़ने लगती है और अक़सर मात्र चुटकलेबाज़ी।"[2]

(ग) साठोत्तरी कहानी : संवाद तथा वातावरण

चूंकि साठोत्तरी कहानी यथार्थ की उपज है, उसका कथ्य तथा पात्र वास्तविक जीवन से आते हैं, इसलिए साठोत्तरी कहानीकारों की रचनाओं में जो संवाद आये हैं, वे यथार्थ एवं व्यावहारिक हैं। ये उन पात्रों के संवाद हैं जो कि यथार्थ जगत् में बोलते-विचरते हमें दिखाई देते हैं। चूंकि इस 'कहानी' का सृजन वैचारिक स्तर पर कम और कलात्मक स्तर पर अधिक होता है इसलिए कहानी के संवाद उसके सृजन में एक महत्वपूर्ण योगवाही रूप देते हैं। इस प्रकार पाठक को कहानी जीवित पात्र या पात्रों की कथा लगती है जो कि उसके चारों ओर वास्तविक जीवन में विचरण करते दिखाई देते हैं। यहां यह कहना असंगत न होगा कि पुरानी कहानी में संवादों का प्रयोग अलंकरण या प्रसाधन के रूप में हुआ करता था। इसमें ऐसे सुन्दर तथा नाटकीय संवादों का प्रयोग होता था, जिससे पाठक का मन प्रफुल्लित हो उठता और उसका औत्सुक्य स्थापित रहता। मगर अब

---

1. परिवर्तन की प्रक्रिया : विजयमोहन सिंह, दे० समकालीन कहानी : सं० डॉ० धनंजय; पृ० 129।
2. समकालीन कहानी : डॉ० धनंजय; पृ० 88।

आज़ादी के बाद के कहानीकारों की यह धारणा बदल गई है। वे कहानी के माध्यम से जीवन का कोई ठोस यथार्थ पाठक के सामने रखना चाहते हैं, धोखा या 'फ्रॉड' नहीं। इसलिए उनकी कहानियों में जिन संवादों का प्रयोग होता है, वे वास्तविक हैं। 'नयी कहानी' के रचनाकारों को इस बात का पहले ही पूरा अहसास हुआ था, जिनकी अधिकांश रचनाएं इसी प्रेरणा से ओत-प्रोत हैं।

साठोत्तरी कहानी की रचनाओं में जिन व्यावहारिक संवादों का प्रयोग किया गया है, वे उन पात्रों के संवाद हैं जो कि पाठक को, हम सबको अपने चारों ओर घूमते-फिरते दिखाई देंगे। उदाहरणार्थ जब दो व्यक्ति आपस में बोलते हैं, यह आवश्यक नहीं है, कि एक व्यक्ति बोले या प्रश्न करे, दूसरा व्यक्ति (श्रोता) उसका उत्तर प्रश्न के अनुरूप ही दे। वास्तविकता यह है कि बोलने वाले में जिस प्रकार हिचकिचाहट या हकलापन हो सकता है उसी प्रकार श्रोता के कथन में भी यह हिचकिचाहट हो सकती है। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि प्रत्येक प्रश्न के लिए टका-सा जवाब नहीं होता या उत्तर असम्बद्ध भी हो सकता है। यह कथन आज के युग में और भी अधिक प्रमाणित हुआ है, जबकि व्यक्ति-व्यक्ति के पारस्परिक रिश्ते ऊलजलूल (अब्सर्ड) होते जाते हैं। हम किसी की बात सुनते हैं, किसी के दुःख-दर्द तथा हंसी में सम्मिलित होते हैं—केवल शिष्टाचार के नाते। हम अपनी ही समस्याओं में उलझे रहने के कारण किसी की बात मन से अनुपस्थित होकर सुनते हैं। स्वातंत्र्योत्तर कहानी-रचियताओं को इस बात का अहसास हुआ। 'नयी कहानी' के रचनाकारों ने भी अपनी अधिकांश कहानियों में अपनी रचनाओं में ऐसे ही संवादों को स्थान दिया है जो कि एकदम वास्तविक हैं। कई साठोत्तरी कहानी-रचियताओं के संदर्भ में यह कथन और अधिक सत्य प्रमाणित होने लगा है। दूधनाथ सिंह की कहानी 'आइसबर्ग' का 'विनय' एक ऐसा ही पात्र है जो मन से अनुपस्थित होने के कारण या किसी और कारण से मामूली बातों पर चौंकता है। रवीन्द्र कालिया की कहानी 'नौ साल छोटी पत्नी' के संवाद व्यावहारिक हैं, जिनमें किसी भी प्रकार का असामान्य तत्त्व दिखाई ही नहीं देता। सामान्य वार्तालाप की दृष्टि से काशीनाथ सिंह की 'संकट', आख़िरी रात', 'सुख', 'अपने घर का देश' तथा अन्य अनेक कहानियों को देखा जा सकता है।[1] इसके विरुद्ध श्रीकान्त वर्मा की कहानी 'शवयात्रा' के अन्त में जिस वार्तालाप को दिखाया गया है, वह कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है।

1. दे० 'लोग बिस्तरों पर' में संग्रहीत कहानियां।

साठोत्तरी कहानीकारों के पात्रों की भाषा जीने की भाषा है। रोज़मर्रा के व्यवहार में जो भाषा प्रयोग में लाई जाती है, इस कहानीकार ने उसका लगभग वैसा ही प्रयोग किया है। इसका परिणाम यह निकला है कि साठोत्तरी कहानीकारों के संवादों में आगे-पीछे विशेषण जोड़ने की आवश्यकता महसूस नहीं की गई है। यहां भी यही बात स्पष्ट होती है कि साठोत्तरी कहानी शिल्पहीन शिल्प की कहानी है।

नयी कहानी के रचनाकारों ने अभीष्ट विचारों या भाव को सांकेतिकता प्रदान करने के लिए प्राय: कथानक और चरित्र के स्थूल उपादानों से ध्यान हटाकर वातावरण पर भी दृष्टि केन्द्रित की है। उनके लिए 'वातावरण' शब्द काफ़ी व्यापक है, जिससे "प्रकृति का भी बोध हो सकता है और शहर, कस्बा, गांव वगैरह के भीतरी जीवन का भी।"[1] यहां वह कहना असगत न होगा कि व्यतीत कहानी में वातावरण का चित्रण कहानी को सजाने के लिए ही प्राय: किया जाता था। किन्तु नयी कहानी में वातावरण का प्रयोग अलकार के रूप में न होकर, अन्त:करण के रूप में हुआ है। वातावरण-निर्माण में नये कहानीकारों ने प्राय: बिम्ब विधान का सहारा लिया है। यहां यह कहना असंगत न होगा कि बिम्ब वस्तुत: आधुनिक युग की कलात्मक अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम हो गया है। पचासोत्तरी आंचलिक कहानियों की जीवन्तता मुख्यत: बिम्बों द्वारा निर्मित वातावरण से ही उत्पन्न हुई। इस संदर्भ में शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार', मोहन राकेश की 'आर्द्रा', राजेन्द्र यादव की 'प्रश्नवाचक पेड़', निर्मल वर्मा की 'तीसरी गवाह' तथा अन्य अनेक कहानियों को देखा जा सकता है, जिनमें बिम्ब-विधान तथा वातावरण का सार्थक प्रयोग किया गया है। 'कोसी का घटवार' में कोसी नदी की सूखीदार घटवार के अकेलेपन का बिम्ब है, तो चक्की के पाट की 'खस्सर-खस्सर', मथानी की 'छिच्छिर-छिच्छर' गोसाई के सूने हृदय की निरर्थक धड़कन का नादमय चित्र है।[2] इस प्रकार 'नयी कहानी' में वातावरण की जो परिकल्पना की गई है, वह यथार्थ संदर्भ की ही परिकल्पना है। इसके माध्यम से कहानी के प्रभाव को गहराने में काफी सफलता सिद्ध हुई है। वातावरण की दृष्टि से निर्मल वर्मा की ख्याति-प्राप्त कहानी 'परिन्दे' की स्मृति सहज ही आती है। सुन्दर तथा यथार्थ वातावरण के माध्यम से कहानीकार

1. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह; पृ० 42-43।
2. कोसी का घटवार : शेखर जोशी, दे० नई कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 391।

ने जो युग-व्यापी संकेत किए हैं, उससे यह कहानी शाश्वत मूल्यों की कहानी बनी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नई कहानी के रचनाकारों ने वातावरण के माध्यम से पात्रों की मानसिक स्थितियों समस्याओं, प्रश्नों यहां तक कि अप्रश्नों पर भी अपनी कहानियों में विचार किया है।

साठोत्तरी कहानीकारों का वातावरण के प्रति अपना अलग दृष्टिकोण है। चूंकि उनकी कहानी भूत और भविष्य से कटकर वर्तमान के क्षण की कहानी है, इसलिए उसमें एक सुनियोजित वातावरण को दिखाने की आवश्यकता साठोत्तरी हिन्दी कहानीकार नहीं समझता है। इसके अतिरिक्त साठोत्तरी कहानीकार की कहानी शिल्पहीन शिल्प की कहानी है, इसलिए वातावरण की परिकल्पना से वह संकेतों, प्रतीकों एवं बिम्बों को दिखाने का प्रयत्न नहीं करता है। रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' हो या ज्ञानरंजन की 'शेष रहते हुए', श्रीकान्त वर्मा की 'शवयात्रा' हो या काशीनाथ सिंह की 'संकट' तथा 'आखिरी रात',—इन सभी कहानियों में वातावरण का आग्रह कहीं भी नहीं है। यदि है भी, उससे किसी बिम्ब या प्रतीक को दिखाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। उपरोक्त कहानियों के अतिरिक्त सोमेश्वर की 'चीज़ें कितनी तेजी से बदल जाती हैं······', सत्येन कुमार की 'एक नाम और', से० रा० यात्री की 'आहत' तथा अन्य अनेक कहानियों को देखा जा सकता है जिनमें कहानी के अभीष्ट प्रभाव को गहराने के लिए वातावरण नहीं दिखाया गया है।

(घ) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : नवीन शीर्षकों की खोज

शीर्षक कहानी का या किसी भी अन्य रचना का महत्वपूर्ण अंग है। शीर्षक के अभाव में कहानी ऐसी ही लग सकती है, जैसा कि एक जीवित व्यक्ति का सिर के बिना जिस्म। चूंकि जीवित व्यक्ति की उपरोक्त स्थिति असम्भव है, उसी प्रकार अन्य साहित्यिक विधाओं की तरह कहानी का शीर्षक होना भी अनिवार्य है। शीर्षक कहानी का वह केन्द्रस्थान है जो कि अपने में सम्पूर्ण कहानी का मर्म समेटने की शक्ति रखता है। जिस प्रकार एक मशीन का बटन उसका नियन्त्रित-स्थान होता है और जिसके 'ऑन' होते ही मशीन में एक झनझनाहट आती है, उसी प्रकार कहानी के शीर्षक से हमें उसकी स्थिति का मर्म समझ में आता है। व्यतीत पीढ़ी के कहानीकारों ने भी कहानी के शीर्षक को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। आचार्य जगन्ननाथ प्रसाद शर्मा ने कहानी के शीर्षक को दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण समझा है—एक, इससे कहानी

के रचनाकाल का संकेत मिलता है, और दूसरा, "उससे कृतिकार की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों का पूरा परिचय हो जाता है। लेखक की अभिरुचि किस प्रकार के विषयों की ओर है अथवा वह विषय के आनयन में कहां तक व्यावहारिक है अथवा कहां तक काव्यात्मक, इसका भी संकेत शीर्षक से मिल जाता है।"[1] प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियों के शीर्षकों को देखकर यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने व्यावहारिक विषयों को लेकर अपनी कहानियों के शीर्षक रखे हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि यथार्थ विषय-चित्रण की ओर अधिक रही है। परिणामस्वरूप विषय के अनुरूप ही उनकी कहानियों के शीर्षक अलंकार-विहीन दिखाई देते हैं। दूसरी ओर, प्रसाद जी की भावात्मक कहानियों के शीर्षक ऐसे होते हैं जिनमें भावप्रवण कल्पना का प्रयोग मिलता है। प्रेमचन्द की कई यथार्थपरक कहानियों के शीर्षक इस प्रकार के हैं—'पूस की रात', 'कफ़न', 'शतरंज के खिलाड़ी' इत्यादि। दूसरी ओर 'प्रसाद' जी की कई कहानियों के शीर्षक हमें इस प्रकार मिलेंगे—'पुरस्कार', 'शरणागत', 'आतमाराम', 'गुंडा' आदि। ये शीर्षक भाव और व्यक्ति का संकेत देते हैं। उपरोक्त कथन से यही स्पष्ट होता है कि कहानी के शीर्षक से ही हमें कहानी की स्थिति के संकेत मिल सकते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी के शीर्षकों के बारे में सबसे बड़ी बात कहने योग्य यही है कि उनका अस्तित्व कहानी से भिन्न नहीं है। दूसरे शब्दों में, स्वातंत्र्योत्तर कहानी का शीर्षक उसके वस्तु-बोध के आन्तरिक रचाव का अनिवार्य प्रतिफलन ही नहीं है, वह उसका पृक्त आकार भी है। जिस प्रकार 'नई कहानी' तथा साठोत्तरी कहानी के सम्पूर्ण अवयव एकरस होकर एकान्वित प्रभाव की सृष्टि करते हैं, उसी प्रकार इसका शीर्षक भी इसके प्रभाव को गहराने में रागधर्म बढ़ाता है। चूंकि 'नई कहानी' सवेदना, शिल्प तथा दृष्टि से व्यतीत कहानी से भिन्न है और वह यथार्थ से बनती है, इसलिए उसके अनुरूप ही इन कहानियों के शीर्षक ऐसे होते हैं जो अलंकारविहीन हों। उनसे कहानी के विषय की विज्ञप्ति होती रहे, यही कहानी-लेखक का उद्देश्य होता है। वह ऐसा शीर्षक गढ़ने के लिए अब माथा-पच्ची नहीं करता है जो पाठक को अपनी ओर आकर्षित करे। यदि कहानी के विषय की विज्ञप्ति के साथ-साथ, आज की कहानी का शीर्षक पाठक को अपनी ओर आकर्षित भी करता है, ऐसा आज का कहानीकार शायद उद्देश्यपूर्ण नहीं

1. कहानी का रचना-विधान : डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा; पृ० 139।

करता है। इस संदर्भ में 'मिस पाल', 'संकट', 'सुख', 'एक कमजोर लड़की की कहानी' तथा दूसरे अनेक कहानी-शीर्षकों को देखा जा सकता है जो कि सपाट हैं तथा सहज ही कहानी के विषय की विज्ञप्ति कराते हैं। स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानीकार ने 'पूस की रात', 'कफ़न' तथा 'रोज़' आदि जैसी कहानियों से ही कहानी-शीर्षक रखने की प्रेरणा प्राप्त की है, न कि 'प्रसाद' जी की कहानियों के शीर्षकों से, जो कि जीवन के यथार्थ से दूर होने के कारण केवल भावात्मक हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आज की कहानी का शीर्षक अनिवार्यतः ऐसा नहीं हो सकता है जो कि पाठक को अपनी ओर आकर्षित करे जिससे उसका अभीप्सित अनुरंजन हो सके।

चूंकि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानीकार का कथा-फलक अत्यंत विस्तृत है और उसने जीवन के नवीन प्रश्नों-अप्रश्नों समस्याओं तथा दूसरी बातों को अपनी कहानी का विषय बनाया है, इसलिए इसके अनुसार ही वह नए शीर्षकों की खोज में अग्रसर दिखाई देता है। यहां यह बात स्पष्ट करना असंगत न होगा कि नवीन तथा अपरिचित शीर्षक देकर ही वह 'नई कहानी' का रचनाकार नहीं कहलाता है, बल्कि विषय के प्रति उसने जो नवीन दृष्टि, संवेदना तथा शिल्प अपनाया है, उसी ने उसको नवीन कहानीकार कहलाने का अधिकारी बनाया है। विषय के प्रति नवीन 'एप्रोच' ही, जिसके पीछे लेखकीय सूक्ष्म यथार्थ दृष्टि काम करती है, उसको नवीन प्रकार के शीर्षक देने के लिए प्रेरित करता है। 'नयी कहानी' के रचनाकार के हाथ में प्रतीक, संकेत, बिम्ब, व्यंग्य आदि जैसे अस्त्र हैं, जिनका उपयोग उसने जहां अपनी कहानी में किया है, वहां इसके अनुरूप ही कहानी-शीर्षक भी दिया है। परिणामतः 'नयी कहानी' का शीर्षक कहीं प्रतीकात्मक होता है, कहीं सांकेतिक, कहीं उसमें कोई तीखा व्यंग्य छिपा होता है तो कहीं वह बिम्ब की विशेषताएं लिए हुए होता है। इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल', मोहन राकेश की 'ग्लास-टैंक', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' तथा 'लन्दन की एक रात', कमलेश्वर की 'मांस का दरिया', शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार', सोमेश्वर की 'चीज़ें कितनी तेज़ी से बदल जाती हैं......', छत्रपाल की 'ललितादित्य के मार्तंड' तथा अन्य अनेक स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के शीर्षकों को देखा जा सकता है, जिनसे नवीन वस्तु-बोध का संकेत मिलता तो है ही, साथ-ही-साथ ये सूक्ष्म प्रतीकों, संकेतों तथा बिम्बों की ओर संकेत करते हैं। राजेन्द्र यादव ने 'छोटे-छोटे ताजमहल' को एक प्रतीक के रूप में लिया है। इस कहानी में ताजमहल की छाया में एक प्रेमी-प्रेमिका का और एक छोटा-सा ताजमहल बना है, जिस पर मुस्कराहट की सफेदी या चमक है,

किन्तु भीतर एक मुर्दा क्षण या प्रेम है। 'परिन्दे' के माध्यम से निर्मल वर्मा ने अपनी कहानी को वैयक्तिक परिवेश से निकालकर समष्टिगत मूल्यों की कहानी बना दी है। प्रस्तुत कहानी में 'परिन्दे' के माध्यम से संकेतों पर संकेत उभरते हैं और इस प्रकार यह कहानी संकेत नहीं करती, बल्कि स्वयं संकेत है। इसी प्रकार निर्मल की ही दूसरी कहानी 'लन्दन की एक रात' जैसा शीर्षक एक ऐसे महानगर का प्रतीक ठहरता है जहां अरक्षा है। 'मांस का दरिया' से कहानीकार कमलेश्वर ने यह संकेत किया है कि यह अभिजात-कुलीन समाज से ओझल होकर बहता रहा है, किन्तु अब यह एक चुनौती के रूप में उसके सामने बहने लगा है। 'कोसी का घटवार' एक घटवार के एकान्त, सूने तथा खोखले जीवन का बिम्ब है। सोमेश्वर की कहानी 'चीजें कितनी तेजी से बदल जाती हैं......'' में एक व्यंग्य छिपा हुआ है। यदि इस शीर्षक को स्पष्ट करके लिखा जाए तो इसका अभिप्राय यह है कि आजकल चीजें कितनी तेज़ी से बदल जाती हैं, किन्तु जन्मजात संस्कार सहज ही बदले नहीं जा सकते हैं। 'ललितादित्य के मार्तंड' एक ऐसे वैभवशाली व्यक्ति का प्रतीक है जिसका आकस्मिक पतन हुआ है और अब उसकी दशा ललितादित्य द्वारा निर्मित मटन के अवशेषों की-सी है।

उपरोक्त उदाहरणों से यह सम्प्रभाव न ग्रहण किया जाए कि प्रतीकात्मक या सांकेतिक या अन्य प्रकार के नवीन शीर्षक देकर ही कोई रचना नई हो सकती है। शीर्षक किस कहानी में कैसा हो, इसका दारोमदार कहानी की स्थिति पर होता है। इसके अनुसार ही उसका लेखक 'कहानी' का नामकरण करता है। चूंकि स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार कहानी नहीं गढ़ता, बल्कि कहानी लिखने से पहले उसके मस्तिष्क में कहानी के बिम्ब होते हैं तथा जिसके अनुसार कहानी के शीर्षक का अभिधान किया जाता है।

कई रचनाओं में स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार सपाट तथा इतिवृत्त नाम देने से भी हिचकिचाया नहीं है। इस संदर्भ में राजेन्द्र यादव की 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी', धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो', कमलेश्वर की 'बयान', काशीनाथ सिंह की 'सुख' तथा 'संकट', श्रीकान्त वर्मा की 'शवयात्रा' तथा ऐसी ही दूसरी रचनाओं के शीर्षकों को देखा जा सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार रूढ़िवादी नहीं है। वैसे भी आज के युग में रूढ़िवादी तथा संस्कारग्रस्त रहना ठीक नहीं है। कारण यह है कि आज का युग द्रुतगति से बदलता जा रहा है। ऐसे गत्यात्मक जीवन में कोई भी सिद्धान्त या परम्परा शाश्वत प्रतीत नही होती। यही कारण है कि नई कहानियों के

शीर्षक सन् 1950 से लेकर अब तक प्राय: एक जैसे नहीं रहे हैं। कई साठोत्तरी कहानी लेखकों ने जहां कहानियों का परंपरित बाना तोड़कर 'अ-कहानी' नुमा कहानियां लिखीं, वहां दूसरी ओर इन्होंने अपनी कहानियों का नामकरण सपाट तथा इतिवृत्त शीर्षकों से किया है। इनमें कई कहानियों के नाम इस प्रकार के हैं—'नौ साल छोटी पत्नी' (रवीन्द्र कालिया), 'शवयात्रा' (श्रीकान्त वर्मा), 'शेष होते हुए' (ज्ञानरंजन), 'समय' (सुरेन्द्र), 'एक बुत शिकन का जन्म' (विजय चौहान)······आदि। इन शीर्षकों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसका अस्तित्व कहानी से भिन्न नहीं है, क्योंकि कहानी के वस्तु-बोध से ही इसका जन्म हुआ है। इसके अतिरिक्त कई स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों ने अपनी कुछ रचनाओं का नामकरण लम्बे शीर्षकों से भी किया है, जैसे 'बन्द गली का आखिरी मकान' (धर्मवीर भारती), 'एक कमजोर लड़की की कहानी' (राजेन्द्र यादव), 'चीज़ें कितनी तेजी से बदल जाती हैं······' (सोमेश्वर), 'आंटी तुम लौट आओ न' (शैलेन्द्र शर्मा) इत्यादि।

निष्कर्ष : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के शिल्प को देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि कहानी अब शिल्प के लिए नहीं लिखी जाती है, बल्कि उसका शिल्प इसके आन्तरिक रचाव का ही प्रतिफलन है। वैसे स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार को शिल्प के लिए कोई अलग से चिन्ता भी नहीं है। वह इसी चिन्ता में होता दिखाई देता है कि उसकी संवेदना दूसरों तक सहज ही सम्प्रेषित हो सके। इन कहानियों के शिल्प का निरन्तर विकास भी होता गया है। सन् '60 के बाद स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी यथास्थिति के समीप इतनी आयी है और वह इतनी सामान्य होती गई है कि कई लोगों को इसमें कोई असामान्य चीज़ दिखाई ही नहीं देती और वे इसी कारण साठोत्तरी कहानी को कहानी नहीं मानते। कहना न होगा कि ऐसे लोगों का यह कथन स्पष्ट करता है कि अब कहानी हर लिहाज से सामान्य होती हुई जीवन के समीप आती जा रही है। इस विकास की प्रक्रिया जारी है।

(घ) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी की भाषा

(1) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी से पूर्व हिन्दी कहानीकारों के भाषा-सम्बन्धी विचार

व्याकरण के अनुसार भाषा वह साधन है जिसके द्वारा एक व्यक्ति अपने भावों तथा विचारों को दूसरों तक पहुंचा सकता है। कहना न होगा कि यह भाषा का अत्यन्त ही व्यापक रूप है जिसमें भाषा का मौखिक, लिखित एवं

सांकेतिक—ये तीनों रूप सम्मिलित होते हैं। भाषा-विज्ञान के अनुसार भाषा ध्वनि-प्रतीकों का व्यक्त समूह है जिसके द्वारा एक समाज अपने भावों एवं विचारों का आदान-प्रदान तथा सहयोग करता है। लेखक के लिए भी भाषा एक माध्यम है जिसके द्वारा वह अपनी संवेदना को पाठकों तक सम्प्रेषित कर सकता है।

प्रेमचन्द की भाषा सरल, साफ़-सुथरी तथा सपाट होने पर भी समर्थ मानी जा सकती है। उसमें एक शक्ति है जो कि सामान्य पाठक को अपनी ओर आकर्षित करती आई है। उन्होंने राष्ट्र-भाषा सम्बन्धी (प्रकारान्तर कहानी सम्बन्धी) विचार इन शब्दों में प्रकट किए हैं, 'राष्ट्रभाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भाषा बनना पड़ेगा।''[1] दूसरे शब्दों में प्रेमचन्द लोकप्रिय भाषा की पहली शर्त 'बोधगम्यता' मानते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि क्या बोधगम्यता के लिए हिन्दुस्तानी भाषा (सरल तथा प्रचलित भाषा) को ही प्रतीक माना जाए? अपने जीवन के अन्तिम दिनों में प्रेमचन्द को इस बात का अहसास हुआ था कि "हिन्दुस्तानी भाषा सम्भव नहीं है क्योंकि बोधगम्यता की शर्त सिर्फ़ चालू शब्दों का इस्तेमाल ही नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध बोध से भी है। यानी वे भाषा के मसले को हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी के राजनैतिक दृष्टिकोण से नहीं, साहित्य की अभिव्यक्ति की अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की दृष्टि से भी देख रहे थे।''[2] बाद में प्रेमचन्द ने इसी बात की ओर संकेत भी किया है।[3] नयी कहानी के समर्थक कमलेश्कर ने प्रेमचन्द के इस कथन का यह मतलब लिया है कि बोधगम्यता के लिए केवल बोलचाल की भाषा का होना ही सब कुछ

---

1. नई कहानी की भूमिका : कमलेश्वर; पृ० 198।
2. उपरिवत्।
3. "······जो हिन्दुस्तानी अभी व्यवहार में नहीं आई, उसके और ज्यादा हिमायती नहीं निकले तो कोई ताज्जुब नहीं। जो लोग हिन्दुस्तानी का वकालतनामा लिए हुए हैं, और उनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी है, वे भी अभी तक हिन्दुस्तानी का कोई रूप खड़ा नहीं कर सके, केवल उसकी कल्पना मात्र कर सके हैं—यानी वह ऐसी भाषा को जो उर्दू और हिन्दी दोनों ही के संगम की सूरत में हो, जो सुबोध हो और आम बोल-चाल की हो।"
   —उपरिवत्; पृ० 198।

नहीं होता है। उन्होंने भाषा के सम्बन्ध में धारणाएं तो बनाई, किन्तु उसके बारे में वे बहुत आश्वस्त नहीं दिखाई देते थे।[1]

वास्तव में बोधगम्यता के लिए भाषा-सम्बन्धी नियम पहले ही निर्धारित नहीं किए जा सकते हैं बल्कि युगीन परिस्थितियों के अनुसार या स्थिति के अनुसार एक लेखक शब्दों का चयन करता है और कहीं-कहीं शब्द न मिलने पर वह माध्यम की खोज में भी निकलता है। इतना ही नहीं, साहित्य केवल संवाद ही नहीं है, बल्कि वह वैचारिक संवाद भी है। एक लेखक सामान्य संवाद के माध्यम से विचार-तत्व को भी अपने पाठकों तक पहुंचाना चाहता है। अत: उसके पास हर जगह ऐसी भाषा उपलब्ध नहीं होती। वह माध्यम की खोज में लगातार होता है ताकि उसके विचार लोगों तक उसी रूप में पहुंच पाएं, जिस रूप में वे उस लेखक में मौजूद होते हैं। स्वातंत्र्योत्तर काल में बदलती परिस्थितियों के कारण बोलचाल की भाषा ही एक लेखक के लिए सब कुछ नहीं हो सकती थी। वह अपनी भाषा के माध्यम से बदलते परिवेश तथा उसमें पनपते नवीन सम्बन्धों को अनुभूति एवं प्रामाणिक यथार्थ के धरातल पर दिखाने का प्रयत्न करता आया है। चूंकि ज़िन्दगी जो परिदृश्य सामने उपस्थित करती है वह सब भाषा में नहीं होता, इसलिए स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार सदैव नवीन भाषा-मुहावरों, शब्दों आदि की खोज में होता है। इसलिए प्रेमचन्द की भाषा-सम्बन्धी धारणा स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार के लिए विशेष सहायक नहीं रही है।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी-कहानी के क्षेत्र को अज्ञेय, जैनेन्द्र, यशपाल तथा दूसरे कहानीकारों ने पल्लवित एवं पुष्पित किया। कहना न होगा कि अज्ञेय तथा जैनेन्द्र में वैयक्तिक स्वर का ही प्राधान्य रहा। इस प्रकार उनकी भाषा भी व्यक्तिगत बनी। इस प्रकार अज्ञेय ने अपनी व्यक्तिगत भाषा में जो कुछ कहा, वह मात्र व्यक्तिगत वक्तव्य ही था। उधर "यशपाल ने परम्परा से प्राप्त भाषा को ही स्वीकार कर लिया। यशपाल को अपनी भाषा नहीं सुनानी है, उन्हें बहुत महत्वपूर्ण बातें सुनानी हैं। इसलिए यशपाल के कथा-साहित्य में कहीं भी भाषा नहीं सुनाई पड़ती, वे बातें ही सुनाई पड़ती हैं जो वे कहना चाहते हैं।"[2].

नयी कहानी के रचनाकारों ने अपने से पूर्व के रचनाकारों की भाषा पर जो प्रहार किए हैं, उसमें कुछ आंशिक सत्य है। सबसे बड़ी बात यह है कि

---

1. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर; पृ० 198-99।
2. उपरिवत्; पृ० 201।

साहित्य की बोधगम्यता के लिए कोई सुनिश्चित परिभाषा निर्धारित नहीं की जा सकती। समय तथा स्थिति की ज़रूरत ही एक कहानी-लेखक को माध्यम की खोज करने के लिए प्रेरित करती है। जो रचनाकार फार्मूले के तहत अपनी आवाज़ दूसरों तक पहुंचाना चाहता है, वह भाषा की खोज में नहीं निकलता।

लेखक की अपनी भाषा भी युग की भाषा बन सकती है, क्योंकि अन्ततः वह युगीन समताओं, विषमताओं, कटुताओं आदि का सहयात्री तथा सहभोक्ता होता है। अतः एक वैयक्तिक लेखक के मूल्य निजी होकर भी पूर्णतः वैयक्तिक नहीं रह पाते। वे किसी-न-किसी तरह दूसरे लोगों के संदर्भों से जुड़ सकते हैं। इसके अतिरिक्त व्यतीत कहानीकार की भाषा को ठुकरा कर यह कहना कि अब का लेखक ही 'सम्प्रेषणीयता' एवं 'बोधगम्यता' के लिए भाषा की खोज में निकला है, यह कथन पूर्णरूपेण सत्य प्रतीत नहीं होता। प्रेमचन्द भी अपने युग में भाषा की खोज में रहे होंगे और उसके बाद भी हिन्दी के कहानीकारों को माध्यम की खोज करनी पड़ी होगी। इस संदर्भ में डॉ० वार्ष्णेय का यहां यह कथन उद्धृत करना समीचीन दिखाई देता है : 'स्वातंत्र्योत्तर काल में जो भी परिवर्तन आए हैं, वे समय के अनुसार स्वाभाविक रूप में आए हैं और यह एक प्रकार से कहानी-कला का विकास ही माना जायेगा, न कि परम्परा के प्रति विद्रोह। प्रेमचन्द तथा यशपाल ने एक ओर, और जैनेन्द्र कुमार तथा अज्ञेय' ने दूसरी ओर जिस परम्परा का निर्माण किया था, आज की कहानी ,वस्तुतः उसका आगे एक विकास है।"[1]

(2) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी की भाषा : अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम

कहानी की भाषा न केवल बोलचाल की ही भाषा है, वह इसके साथ-साथ साहित्यिक-संवाद भी है। एक कहानी-लेखक यों तो सामान्य शब्दों, मुहावरों एवं संवादों का प्रयोग करता दिखाई देता है, जिनकी गूंज हमें दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली भाषा में भी दिखाई देती है। किन्तु इसके बावजूद स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी की भाषा सामान्य होकर भी सामान्य नहीं है। सतही तौर पर उसकी भाषा सामान्य तो लगती है किन्तु भीतर से यह अत्यंत ही गम्भीर होती है। इस प्रकार "साहित्य सिर्फ संवाद नहीं है, वह वैयक्तिक संवाद भी है। संवाद के लिए किसी भी ज़बान को इस्तेमाल किया जा सकता है पर जब सवाल विचार-तत्त्व को दूसरे तक पहुंचने का आता है, तो

---

1. आधुनिक कहानी का परिपार्श्व : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; पृ० 82।

उसकी 'भाषा' हर जगह, हर वक्त मौजूद नहीं होती ।"[1] इसलिए स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानीकार सदैव भाषा की खोज में होता है ताकि वह अपने मन में स्थित बिम्बों एवं विचारों को उपयुक्त भाषा के माध्यम से सम्प्रेषित कर सके । वस्तुतः यह कार्य उतना सरल नहीं है जितना कि यह दिखाई देता है । कभी-कभी ऐसा होता है कि लेखक के मन में कोई बिम्ब होता है और उसके शब्द-प्रतीक इस बिम्ब को सही ढंग से प्रस्तुत करने में चूक जाते हैं । ऐसी स्थिति में कहानी-लेखक की प्रामाणिकता पर उंगली उठाई जा सकती है । कभी-कभी यह भी हो सकता है कि एक लेखक के पास वे शब्द-प्रतीक नहीं होते हैं जिनके द्वारा वह अपना विचार-तत्त्व पाठकों तक पहुंचाना चाहता है । "जिन्दगी जो परिदृश्य सामने उपस्थित करती है वह सब भाषा में नहीं होता । कुछ दृश्य हैं, कुछ मूक क्षण हैं, कुछ संवेदनाएं हैं, कुछ अत्याचार व संत्रास हैं ......कहने का मतलब यह है कि भाषा के होते हुए भी लेखक के पास भाषा नहीं होती । हर लेखक को भाषा की खोज करनी पड़ती है, क्योंकि आदमी के अन्दर और बाहर जो खामोशी है, और उसके अन्दर और बाहर जो शोर है, वह हर समय एक-सा नहीं होता और उसी को कथाकार शब्द देता है ।"[2] अतः अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच भाषा निश्चय ही एक जीवित और स्वतंत्र सत्ता है जो कि लेखक को पाठक के समीप लाती है । इसके लिए यह आवश्यक है कि लेखक की भाषा ऐसी हो जो कि उसके चित्त (अनुभूति या 'फीलिंग') को उसी ढंग से भाषा के माध्यम से प्रकट कर सके जिसे वह पाठक-गण तक पहुंचाना चाहता है । लेखक की यह क्षमता ही सामान्य तथा बोलचाल के शब्दों को साहित्य में बदल देती है । "बोलचाल के शब्द आम इस्तेमाल के स्तर से उठकर कुछ और हो जाते हैं......उनका अर्थ-संदर्भ भी बदल जाता है और उनमें दोहरी शक्ति सामने लगती है—उसकी बदली हुई ध्वनि और ध्वनि के बदलने के साथ ही उनका तत्काल बदला हुआ मानसिक प्रभाव ।"[3]

इस प्रकार भाषा स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार के हाथ में एक सशक्त माध्यम है, जिसके द्वारा वह अपनी 'फिलिंग' को दूसरों तक पहुंचाने की समर्थता रखता है । स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार ने जहां द्रुतगति से बदलती परिस्थितियों को देखा, वहां दूसरी ओर उसने कहानी-भाषा के लिए उन शब्दों की खोज की,

1. नई कहानी की भूमिका : कमलेश्वर; पृ० 199 ।
2. उपरिवत् ।
3. कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव; पृ० 118 ।

जो युगीन संत्रास, दरार, तनाव, व्यथा, विसंगति, नवीन प्रश्नों (अप्रश्नों), बदलते रिश्तों, समस्याओं आदि पर प्रकाश डालने के लिए उपयुक्त हों। कभी-कभी ऐसा होता है कि लेखकीय-संवेदना उसकी अभिव्यक्ति से एकाकार नहीं हो पाती, तब यह खतरा होता है कि लेखक के कथन का मर्म छिटक जाता है। "उस समय तो चेतना की सरहदों पर चलने वाली इस गुरिल्ला-लड़ाई की प्रकृति और भी जटिल हो जाती है जब सोचने और अनुभव करने की भाषा, जीवन जीने की भाषा ही न हो।"[1]

इस तरह यहां हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर कहानी की भाषा सच्चाई और असलियत की भाषा है जो कि अपनी वस्तु की सूक्ष्म व्यंजना करने की कोशिश करती है। यह अभिव्यक्ति (भाषा) शिल्प के माध्यम से अपने संश्लिष्ट रूप को प्राप्त कर चुकी है। आधुनिक भाव-बोध की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हेतु कथाकार को सशक्त भाषा की आवश्यकता पड़ती है जिसको अब वस्तु से अलग करके देखा नहीं जा सकता। शिल्प और वस्तु दोनों का सम्बन्ध अब इतना निकट हो गया है कि अब इन्हें अलग-अलग करके देखना भी उचित नहीं दिखाई देता। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शिल्प और वस्तु दोनों का निकट का सम्बन्ध है, और इस सम्बन्ध के निर्वाह के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता होती है और वह है भाषा।

स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों ने (विशेषकर नयी-कहानी के रचनाकारों ने) अपनी भाषा में समयानुसार परिवर्तन एवं परिमार्जन भी किये हैं। उन्होंने बहुधा नवीन सूक्ष्म-प्रतीकों, संकेतों, बिम्ब-योजना, अभिव्यंजना-शक्ति आदि शक्तियों का प्रयोग किया है। इससे कहानी की संवेदनशीलता तथा उसकी सूक्ष्म अर्थवत्ता आदि में वृद्धि हुई है। डॉ० नामवरसिंह नयी-कहानी की भाषा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं, "तमाम अलंकरण-आवरण का कूड़ा-करकट छोड़कर भाषा इतनी स्वच्छ और निर्मल हो उठी है कि विषय-वस्तु और पाठक के बीच में भाषा का व्यवधान ही नहीं रह जाता। कहानी का तथ्य पूरी ताकत के साथ मन पर सीधा असर डालता है।"[2]

आजादी के बाद की प्रत्येक कहानी पर कहानीकार के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इसी कारण प्रत्येक रचनाकार की भाषा-शैली में विविध रूपों के दर्शन होते हैं। प्रत्येक कहानीकार ने अपने स्वतंत्र शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, भाषा-सौन्दर्य, चिन्तन आदि का समावेश किया है, जिससे स्वातंत्र्योत्तर कहानी-शिल्प में विविधता एक ओर तो आई है, तो दूसरी ओर

---

1. कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेन्द्र यादव; पृ० 118।
2. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह; पृ० 47।

लेखकों की विभिन्न एवं स्वतंत्र चिन्तन-प्रणालियां भी पाठकों के सम्मुख आती हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'नयी कहानियों' तथा 'साठोत्तरी कहानियों' के कई उदाहरण प्रस्तुत करना असंगत न होगा।

(3) स्वातंत्र्योत्तर कहानी की भाषा : अर्थवत्ता का प्रयोग

नयी कहानी के प्रत्येक शब्द का अपना अलग स्थान है। कई कहानियों में पंक्ति-विशेष से ही कहानी के समग्र को अर्थान्वित करने का प्रयास किया गया है। "नया कहानीकार जीवन की छोटी-से-छोटी घटना में अर्थ के स्वर-स्तर उद्घाटित करता हुआ उसकी व्याप्ति को मानवीय सत्य की सीमा तक पहुंचा देता है।"[1] इस रूप में एक अर्थगत प्रयोग 'नयी कहानी' में संकेत के सहारे हुआ है। कभी-कभी कहानी में संकेत संदर्भगत होता है तो दूसरे प्रकार का परिवेश चित्रात्मक। इन संकेतों का प्रयोग कहानियों में इतना काफी हुआ है अब कि कहानी संकेत नहीं करती, बल्कि स्वयं संकेत है। निर्मल वर्मा की एक चर्चित कहानी 'परिन्दे' सांकेतिकता से भरी पड़ी है। प्रस्तुत कहानी का एक वाक्य 'हम कहां जाएंगे?'[2] ऐसा ही एक संकेत है जो कि इसको गम्भीर अर्थ प्रदान करता है। इसकी प्रश्नवाचकता केवल कहानी के संदर्भ में सीमित न होकर अधिक विस्तृत है। इसका अर्थ अपनी व्यापकता में अपरिचित की अनुभूति देता मानव की अनिश्चित नियति को संकेतिक करता है। यह वाक्य अपनी अर्थवत्ता में कहानी के पात्रों और उसके देश-काल से ऊपर उठकर इसमें व्यापकता देता है। यह व्यापक अर्थ और अर्थ-नियोजन कहानी के मध्य में हुआ है।

कई कहानियों में एक विशेष पंक्ति ही सम्पूर्ण कहानी में अर्थ की गूंज-अनुगूंज उठाती आवृत्त होने लगती है। कमलेश्वर की एक कहानी 'नागमणि'[3] में 'राम अब घर चाल' जैसा वाक्य इसी रूप में अर्थवान है। सम्पूर्ण देश को स्वतंत्र भारतीय परिवेश में लौटने की विकलता है और लौटने पर उन्हें शून्यता एवं निष्फलता के सिवा और कुछ नहीं मिलता। उपरोक्त वाक्य से कहानी में यह अनुगूंज जगह-जगह अर्थमयी होती चलती है।

निर्मल वर्मा की एक और कहानी 'लन्दन की एक रात' की आखिरी पंक्ति "और मुझे लगा, जैसे मैंने मुद्दत से सिगरेट नहीं पी"[4] सिगरेट के अर्थ

---

1. कहानी : नयी कहानी—डॉ० नामवर सिंह; पृ० 34।
2. मेरी प्रिय कहानियां (निर्मल वर्मा); पृ० 68।
3. कमलेश्वर : नागमणि—धर्मयुग; '69; पृ० 19।
4. मेरी प्रिय कहानियां : निर्मल वर्मा; पृ० 40।

को ही नहीं बल्कि मौन असंतुष्टि के अर्थ को भी व्यक्त कर देती है। मोहन राकेश की 'सुहागिनें' में मनोरमा की इस प्रकार प्रतीति है, "न जाने क्यों उसे लगा कि सड़क पर कंकड़-पत्थर पहले से कहीं ज्यादा है और गोल सड़क न जाने कितनी बड़ी हो गई है।"[1] यह प्रतीति न केवल मार्ग-विषयक बोध ही देती है, बल्कि उसके जीवन-पथ की पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिक व्यवधानों, कठिनाइयों से भर उठने और कहीं अधिक दीर्घ हो जाने का बोध कराती है। इस प्रकार इन पंक्तियों के अर्थ में गम्भीरता आ जाती है।

उषा प्रियंवदा की एक प्रसिद्ध कहानी 'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल' में भाषा का सौष्ठव उपलब्ध है। कहानी की ये पंक्तियां कि, "प्यार से बड़ी एक और आग होती है भूख की, पेट की, वह आग धीरे-धीरे सब-कुछ लील लेती है।"[2]—सम्पूर्ण कहानी को अर्थ से आच्छन्न कर देती है। सुबोध की मां अपने पुत्र को असीम प्यार देती थी। मगर जब वह नौकरी छोड़ देता है, तब मां का प्यार भी उसके प्रति कम होने लगता है। वस्तुतः जठराग्नि ने कहानी में मातृ-प्रेम तक को अपने में आत्मसात् किया है। दूसरी ओर शोभा है, जो सुबोध से प्रेम करती है। दोनों के विवाह की बातें भी चल चुकी हैं, किन्तु सुबोध के नौकरी छोड़ देने से शोभा के पिता भी उसका सम्बन्ध अन्यत्र निश्चित कर लेते हैं। यहां भी जठराग्नि की आग शोभा और सुबोध के प्रेम को अपने में ही आत्मसात् करती है।

(4) प्रकृति-चित्रण के माध्यम से अर्थोद्रेक के प्रयोग

(क) नई कहानी में प्रकृति-चित्रण के माध्यम से भी अनुभूति की तीव्रता को बढ़ाया गया है। इन कहानियों में प्रकृति का चित्रण पात्रों की मानसिक स्थिति के अनुरूप हुआ है या उससे घुला-मिला है। इन कहानियों में प्रकृति का योग साज-सज्जा के लिए नहीं बल्कि उसके मर्म को बढ़ाने के लिए ही हुआ है। निर्मल वर्मा, नरेश मेहता, शिवप्रसाद सिंह जैसे कहानीकारों की कहानियों में ऐसे अर्थ-प्रयोग प्राप्त हैं।

निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' में प्रकृति-चित्रण के माध्यम से मिस लतिका की मानसिक स्थितियों के चित्रण उकेरे गए हैं। कहानी में बादलों के चित्र इस प्रकार हैं, "आज दिन भर बादल छाये रहे, लेकिन खुलकर बारिश न हुई।"[3] यहां बादलों का न घुमड़ना लतिका के मन की घुमड़न की ओर

---

1. सु ागिनें : मोहन राकेश; पृ० 74।
2. ज़िन्दगी और गुलाब के फूल : उषा प्रियंवदा; 163।
3. मेरी प्रिय कहानियां : निर्मल वर्मा; पृ० 41।

संकेत है। कहानी का एक और स्थल इस प्रकार है, "जब वह बाहर कारीडोर में आई बारिश की बौछार तेजी से पड़ने लगी थी।"[1] यहां भी आवृष्टि लतिका के मन की घुमड़न को स्पष्ट करती है। इसी प्रकार 'मिस पाल' (मोहन राकेश) की नायिका कथावाचक रणजीत से कहती है कि "मैं आज बाजार इसलिए नहीं जाती क्योंकि दिन घिरा हुआ है।"[2] ठीक ही वह कहती है कि जब जीवन ही घिरा हुआ है तब सामान लाना भी बेकार है।

इसके अतिरिक्त नरेश मेहता की 'निशा जी'[3], शिवप्रसाद सिंह की 'सुबह के बादल'[4] तथा 'नन्हो'[5] में भी प्रकृति के माध्यम से मानसिक घुटन की ओर संकेत किये गये हैं।

(ख) कहानी की भाषा : **वस्तु-चित्रण एवं प्रतीकों से नूतन अर्थोद्रेक के प्रयोग :** भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', उषा प्रियंवदा की 'वापसी', शिवप्रसाद सिंह की 'नन्हों' तथा ऐसी ही अनेक स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में वस्तु-चित्रण से नूतन अर्थोद्रेक के प्रयोग हुए हैं। 'चीफ की दावत' में घर का फालतू सामान अलमारियों के पीछे और पलंगों के नीचे छिपाया जाने लगा। तभी शामनाथ के सामने एक समस्या उपस्थित हुई, "(इस बूढ़ी) मां का क्या होगा ?"[6] यहां फालतू सामान छिपाने के संदर्भ में मां का जो उल्लेख आया है, उससे यह संकेत मिलता है कि सामान की तरह ही अब व्यक्ति की उपयोगिता-अनुपयोगिता पर सोचा जाता है।

---

1. मेरी प्रिय कहानियां : निर्मल वर्मा; पृ० 40।
2. 'क्वार्टर' (मोहन राकेश) में संकलित।
3. 'क्या कहूं कि उस गौरामुख पर क्या हुआ ? हवा तेज हो आई थी। बादल एक दूसरे से गुंथे हुए, घुलते हुए नीचे उतरकर घाटियां झरने लगे थे। अब तो वे लम्बे-लम्बे फैलते एक-एक देवदार के ऊपर से होते बढ़ आए हैं। लाल-पीली छतों से तैरते मकानों, बारजों, बालकनियों और खिड़कियों में भी घुलने लगे हैं। बस जहां निशा का पलंग था उसी खिड़की के बन्द शीशी के पार टहलने लगे हैं। उन झांकते बादलों की गीली भाप कैसे शीशों पर झलक आयी है।"
—तथापि : नरेश मेहता; पृ० 42।
4. इन्हें भी इंतजार है : शिवप्रसाद सिंह ; पृ० 97।
5. उपरिवत्।
6. 'चीफ़ की दावत' : भीष्म साहनी, दे० एक दुनिया समानान्तर—राजेन्द्र यादव; पृ० 223।

उषा प्रियंवदा की 'वापसी' नामक कहानी का एक स्थल इस प्रकार है, "जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबन्ध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गई थी —गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े, कभी-कभी अनायास ही, इस अस्थायित्व का अनुभव करने लगते।"[1] इन पंक्तियों से गजाधर बाबू की निजी स्थिति का परिचय होता है। कहानी की ये पक्तियां गजाधर बाबू की आन्तरिक अभिव्यक्ति और भी उजागर कर देती हैं, "(गजाधर बाबू की पत्नी का कथन) अरे नरेन्द्र, बाबू जी की चारपाई कमरे से निकाल दे……। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।"[2]

(5) प्रतीकों एवं लोकगीतों के माध्यम से अर्थ-प्रयोग

स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में प्रतीकों एवं बिम्बों के माध्यम से भी कहानी को अर्थवत्ता प्रदान की गयी है। इनके प्रयोग से कहानियों में जहां एक ओर शिल्पगत पच्चीकारी आई है, वहां दूसरी ओर कहानी का प्रभाव अधिक तीव्र करने के लिए इनका योग अत्यन्त लाभदायक रहता है। इस संदर्भ मे उषा प्रियंवदा की 'मछलियां', श्रीकान्त की 'झाड़ो', मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक', राजेन्द्र यादव की 'प्रश्नवाचक पेड़', कमलेश्वर की 'खोई हुई दिशाएं' तथा अन्य अनेक कहानियों को देखा जा सकता है, जिनमें प्रतीकों का सफल प्रयोग हुआ है।

हिन्दी कहानियों में कथानक को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ कहानीकारों ने अपनी रचनाओं में स्थानीय लोकगीतों का भी समावेश किया है। इन लोकगीतों की कई विशेषताएं हैं। सबसे बड़ी विशेषता यही है कि कहानी में इनके प्रयोग से स्थानीय रंग आ जाता है और कहानी का वातावरण सजीव बन जाता है। स्थानीय रंग कहानी को यथार्थ धरातल के समीप लाने के लिए भी सहायक सिद्ध हुआ है। यहां यह बात याद रखने योग्य है कि इनका प्रयोग अब कहानीकार अलंकरण के तौर पर नहीं करता है, बल्कि कहानी के मर्म को तीव्र करने के लिए तथा पात्रों की मानसिक विकृतियों की सूक्ष्म अभिव्यंजना करने के लिये कहानीकार इन्हें प्रयोग में लाता है।

---

1. 'वापसी' : उषा प्रियंवदा, दे० नयी कहानी : प्रकृति और पाठ —सम्पादक सुरेन्द्र; पृ० 117।
2. उपरिवत्; पृ० 112।

लोकगीतों का सफल प्रयोग करने वालों में फणीश्वरनाथ रेणु, शैलेश मटियानी, लक्ष्मीनारायण लाल, तथा अन्य कई कहानीकारों ने ख्याति प्राप्त की है। नीचे लोकगीत का एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

"हाँ—-रे, हल जोते हलवाहा भैया रे—
खुरपी रे चलावे—म-ज-दू-र।
रहि पंथे, धानी भौराहे रूसलि ॥"[1]

चिलचिलाती धूप में खेतों में काम करते हुए हलवाले को जाने-अनजाने विरह के गीत याद आते हैं। वास्तव में उपरोक्त पंक्तियां हलवाहे की मनोदशा का सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं।

(6) साठोत्तरी कहानीकारों के कहानी-भाषा-सम्बन्धी वक्तव्य

साठोत्तरी कहानीकारों ने कहानी की भाषा से सम्बन्धित अपने कई उद्गार प्रकट किये हैं। उनका कथन है कि कहानी की भाषा असलियत और सच्चाई की भाषा होती है—ज़िन्दगी के सम्पर्क की भाषा। साठोत्तरी कहानीकारों ने व्यतीत-दशक के कहानीकारों पर भाषा-सम्बन्धी कई आरोप लगाये हैं। सबसे बड़ा आरोप यही है कि नयी कहानी के रचनाकारों को शिल्प-वैशिष्ट्य का अत्यधिक आग्रह था, जिससे उनकी रचनाओं में वास्तविकता पर कुहासा छा गया। इसी बात की ओर लक्ष्य करते हुए निर्मल वर्मा कहते हैं, "सन् '60 तक आते-आते राजेन्द्र यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल', राकेश की 'एक और जिन्दगी', कमलेश्वर की 'पीले गुलाब का फूल', रेणु की 'रसप्रिया' और रमेश बक्षी की 'रंगीन तस्वीरें' आदि कहानियों में खंडित-बिम्बों और प्रतीकों की माला, मानसिक दिवास्वप्न, बेतरतीब कथ्य, रोमानी मनःस्थितियों की बहुलता रही, मगर यथार्थ संवेदन गायब रहा। शायद प्रतीकों के प्रति अतिरिक्त आग्रह ने ही वास्तविकता को व्यक्त करने के बजाय उसका भ्रम ही रचा। परिणामस्वरूप देखते-देखते झूठ का विराट नकली साहित्य खड़ा हो गया।"[2]

इस प्रकार साठोत्तरी कहानीकारों के कथनानुसार उनकी दृष्टि अधिक यथार्थपरक और संवेदना संपृक्त व्यक्ति की हुई, इसलिए वह (साठोत्तरी लेखक) "कहानी चित्रित नहीं करता, कहानी जीता है।"[3] इस यथार्थ-परक दृष्टि ने इन

1. रसप्रिया : फणीश्वरनाथ रेणु; पृ० 12।
2. समकालीन कहानी : दिशा और दृष्टि—सं० डॉ० धनंजय; पृ० 199।
3. उपरिवत्; पृ० 134।

कहानीकारों को जीवन को यथास्थिति के समीप इतना लाया है कि ये कहानियां हर लिहाज से सामान्य हो गयी हैं। साठोत्तरी हिन्दी कहानियों में जो सामान्य पात्र आये हैं, उनकी भाषा भी सामान्य है। इसी से साठोत्तरी कहानी-साहित्य की दृष्टि, संवेदना तथा शिल्प में भी सामान्यता एवं स्वाभाविकता आई है।

साठोत्तरी कहानीकारों एवं आलोचकों के इस कथन में आंशिक सत्य है। उनमें से कई कहानीकारों ने यथार्थ के समीप आकर वास्तविक जीवन तथा उसमें विचरण करने वाले पात्रों को देखा है। इस संदर्भ में दूधनाथ सिंह की 'प्रतिशोध', 'रीछ' तथा 'इन्द्रधनुष', काशीनाथ सिंह की 'सुख' तथा 'अपने घर का देश', रवीन्द्र कालिया की 'एक प्रामाणिक झूठ', अवधनारायण सिंह की 'चेहरे', महेन्द्र भल्ला की 'एक पति के नोट्स' तथा 'तीन चार दिन' तथा अन्य अनेक कहानियों की भाषा यथार्थ और जीने की भाषा है। सन् '70 के उत्तर के कई कहानीकारों ने भी विषय-वस्तु के अनुरूप अपनी वाहिनी भाषा का इस्तेमाल किया है। लगता है कि अब कहानी की भाषा यथार्थ से ही बनती है।

किन्तु जब साठोत्तरी कहानी-आलोचक 'नयी कहानी' की रचनाओं का तिरस्कार करके अपनी रचनाओं को ही यथार्थ के समीप समझते हैं, वे संकुचित दृष्टिकोण को अपनाने का परिचय देते हैं। यों तो यह पीढ़ियों का संघर्ष होता है कि प्रत्येक अनुवर्ती पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी की उपलब्धियों का तिरस्कार करती आयी है। किन्तु इसका मतलब यह न लिया जाए कि एक पीढ़ी एकदम अपनी परवर्ती पीढ़ी का तिरस्कार करे। इस संदर्भ में अमरकान्त की कहानी 'ज़िन्दगी और जोंक' को देखा जा सकता है। प्रस्तुत कहानी का रजुआ घुटन, टूटन और विषाद में जीता हुआ समय काट रहा है। कहानीकार के शब्दों में, "रजुआ—भिखमंगा, नाटा था। गाल पिचके हुए, आंखें धंसी हुई और छाती की हड्डियां साफ बांस की खपच्चियों की तरह दिखाई दे रही थीं।" क्या कहानी की यह भाषा यथार्थ की भाषा नहीं है ? "यह भाषा मरते हुए शानदार अतीत की नहीं, उसी में से फूटते हुए विलक्षण वर्तमान की भाषा है। उस अनाम, अरक्षित आदिम मनुष्य की, जो मूल्य और संस्कार चाहता है, अपनी मानसिक और भौतिक दुनिया चाहता है।"[1] इसके अतिरिक्त कमलेश्वर की 'मांस का दरिया', अमरकान्त की 'हत्यारे', रमेश बक्षी की 'मातम' तथा दूसरी कहानियों को देखकर साठोत्तरी

---

1. नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर; पृ० 209।

कहानीकारों का यह भ्रम दूर हो सकता है कि वे ही कहानी में यथार्थ और जीने की भाषा जी रहे हैं।

रही शिल्प-वैशिष्ट्य की बात, साठोत्तरी कहानीकार भी इसके आग्रह से मुक्त नहीं रह पाए हैं। 'अ-कहानी' लेखकों के ये दावे कहीं-कहीं भ्रामक तथा झूठ दिखाई देते हैं कि उन्होंने संकेतों, प्रतीकों एवं बिम्बों का प्रयोग नहीं किया है। उदाहरणार्थ 'नौ साल छोटी पत्नी' को ही लिया जाए। आलोचक इसे 'अ-कहानी' घोषित करके इसे सपाट कहानी भी मानते हैं। रवीन्द्र कालिया की इस कहानी को यदि गौर से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि यह शैल्पिक-पच्चीकारी से मुक्त नहीं है। उदाहरणार्थ कहानी में नल से पानी गिरने की आवाज़ का जो संदर्भ है, उससे तृप्ता एवं कुशल के दाम्पत्य जीवन की बाहरी हलचल का संकेत है, जबकि अन्दर से वे एक-दूसरे के प्रति तटस्थ हैं और उनके रिश्तों में नीरसता है तथा उनका जीवन सन्न है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों ने बदलती जीवन-दृष्टि के अनुसार ही भाषा में भी मोड़ लाए हैं, जिससे कि कहानी एक ओर स्वाभाविक बन पड़ी है और दूसरी ओर उसने यथार्थ के अन्तरतम को छुआ है। यहां निरर्थक एवं अनावश्यक शब्दों के लिए अब कोई गुंजाइश नहीं रही है। संकेतों, प्रतीकों एवं बिम्बों ने कहानी को गहन अर्थवत्ता प्रदान की है। इससे अनुभूत जीवन-दृष्टि तथा भाव-बोध का ही परिचय होता है। आज की कहानी का जो रूप उपलब्ध है, डॉ० नामवर सिंह के ये शब्द उसे स्पष्ट करते हैं, "भाषा इधर की कहानियों की काफी बदली है, यह भी कह सकते हैं कि मंजी है। यहां तक कि हिन्दी गद्य का अत्यन्त निखरा रूप आज की कहानी में ही सबसे अधिक मिलता है। कहानी में एक भी फालतू शब्द न आए, इसके प्रति आज का लेखक बहुत सतर्क है और यह शुभ लक्षण है।"[1]

1. कहानी : नई कहानी; पृ० 32।

षष्ठ अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : प्रवृत्तियाँ तथा उपसंहार

(क) स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

(1) पुराने वादों से मुक्त होने की छटपटाहट

प्रस्तुत पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में जिन स्वतंत्र्योत्तर कहानियों का अध्ययन एवं विश्लेषण हुआ उससे स्वातंत्र्योत्तर कहानी से सम्बन्धित कई सामान्य विशेषताएँ सामने आती हैं। उनमें से एक विशेषता यह है कि स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार किसी 'वाद' के लोभ में आकर कहानियां नहीं लिखता है। दूसरे शब्दों में उसको 'वादों' से मुक्त होने की छटपटाहट है। वह कहानियों का निर्माण व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर करना चाहता है, कहानी-कला के माध्यम से सिद्धांत-प्रचार नहीं करना चाहता। इस सिलसिले में हमारा ध्यान सहज ही प्रेमचन्दकालीन तथा प्रेमचन्दोत्तर कहानीकारों की ओर जाता है। प्रेमचन्द ने निःसन्देह यथार्थ के धरातल पर कहानियों का निर्माण किया किन्तु 'कहानी' या 'उपन्यास' के प्लॉट में वे जरा आगे जाकर अपने पात्रों पर आदर्शवाद का आवरण डालकर 'कहानी' को एकदम 'शार्टकट' पर लाते थे। इस तरह उनकी अधिकांश कहानियां आदर्शवाद के कुहासे में जाकर सुधारवादी कहानियाँ हो गई। इस बात का अहसास प्रेमचन्द को बाद में हुआ। 'कफन', 'पूस की रात', और 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी कहानियाँ इसी अहसास के परिणाम की कहानियाँ हैं।

प्रेमचन्दोत्तर काल में भी प्राय: कहानियों का निर्धारण फार्मूलों के आधार पर ही हुआ है। मार्क्सवाद से प्रभावित कहानियों में 'चरित्र' भीड़ या जुलूस में अपना व्यक्तित्व खो बैठा है या 'फ्रायड' की मान्यताओं से प्रभावित कहानियों में 'चरित्र' इतना विशिष्ट और महान् हो गया है कि सामाजिक सन्दर्भ उसके लिए बेमानी रह गये हैं। पात्रों और घटनाओं की कल्पना ये लेखक अपने 'आइडिया' या 'विचार' के अनुसार ही करते थे। एक ओर फ्रायड के मनोविश्लेषण को सुनिश्चित दर्शन के तौर पर अंगीकृत किया गया तो

दूसरी ओर कहानियों पर मार्क्सवाद का मुलम्मा चढ़ाया गया। यही कारण है कि नये कहानीकार-समीक्षक इन कहानीकारों पर आरोप लगाते हैं कि साहित्य-प्रसार की अपेक्षा वे सिद्धांत-प्रचार करते थे। श्री सुरेन्द्र के शब्दों में, "......कहानी जीती-जागती 'सृष्टि' की अपेक्षा फार्मूले में कैद होकर रह गई।"[1]

इस कथन का आशय कदापि यह न लिया जाए कि आज का कहानीकार 'वाद' के 'अध्ययन' एवं 'सम्प्रभाव' से बिलकुल मुक्त है। वह पश्चिमी चिन्तकों एवं दार्शनिकों से स्वतंत्रता से पूर्व के कहानीकारों की अपेक्षा अधिक प्रभावित है। परन्तु स्वतंत्रता से पूर्व (प्रेमचन्दोत्तर कहानी-लेखक) जिस तरह इन पश्चिमी दार्शनिकों के 'प्रभाव' को ग्रहण करते थे और जिस प्रकार आज का कहानीकार इस प्रभाव को ग्रहण करता है, उसमें महान् अन्तर आ गया है। अब वह पुराने कहानीकार की तरह 'वाद' का प्रचार नहीं करता है बल्कि उसके सम्प्रभाव में उसी सीमा तक अपनाना चाहता है जिस सीमा तक वह उसकी आवश्यकता महसूस करता है। उसके लिए 'वाद' स्वयं पूरक न होकर पूर्ति की ओर जाने का एक आयाम-मात्र है।

पुराने कहानीकार (उदाहरणार्थ प्रगतिवादी कहानीकार) जिन दार्शनिकों से प्रभावित होकर कहानियां लिखते थे, बदलती परिस्थितियों में वे समय के तकाजे पूरे न कर सके। अतः ये स्वर संदर्भहीन होने के कारण निष्प्राण एवं आत्मवंचनापूर्ण लगने लगे।[2] यहां यह कहना असंगत न होगा कि समय के तकाजे बहुत हद तक अस्तित्ववाद का नवीन दर्शन पूरा करता था, जिसके प्रभाव को हिन्दी कहानी लेखकों ने बहुत बड़ी सीमा तक ग्रहण किया। 'नयी कहानी' के लेखकों पर इसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में स्थान-स्थान पर दिखाई देता है।

स्वातंत्र्योत्तर काल के लगभग प्रथम दो वर्षों में प्रगतिवादी सिद्धान्तों के आधार पर कहानियां लिखी गई किन्तु अब प्रगतिवादी युग समापन की ओर जा रहा था, अतः इस साहित्य में विशेष अभिवृद्धि न हुई। इस साहित्य को

1. नयी कहानी : प्रकृति और पाठ; श्री सुरेन्द्र, पृ० 59।
2. "स्तालिन के बाद रूस के भीतरी परिवर्तन, रूस और चीन का आपसी तनाव, चीन का भारत के प्रति रवैया इन सबने प्रगतिशीलता की उन जड़ों को हिला दिया जिन पर हमारी आस्था की बेल पनपी थी।"
—कहानी : स्वरूप और संवेदना—राजेंद्र यादव; पृ० 41.

विशेष महत्त्व भी प्राप्त नहीं हुआ। जैसा कि पहले ही संकेत किया गया है कि बदलती हुई परिस्थितियों में यह साहित्य कोई विशेष उन्नति न कर सका और इस तरह यह आगे बढ़ने में समर्थ सिद्ध हुआ। फलस्वरूप स्वतंत्र्योत्तर-कालीन कहानी साहित्य में इसका कोई विशेष महत्व नहीं रहा।

(2) विस्तृत रचना-फलक

स्वातंत्र्योत्तर कहानी का रचना-फलक विस्तृत है। वह पुरानी कहानी की तरह किन्हीं धारणाओं और 'पैटर्न' से ग्रस्त नहीं है। आजका लेखक सम्पूर्ण युगीन जीवन की धड़कनों को अनुभव करके अपनी रचनात्मक चेतना पर सम्प्रेषित करने की चेष्टा करता है। वह व्यतीत कहानीकारों की तरह किसी निश्चित दर्शन अथवा विचारधारा के अधीन होकर कहानियाँ नहीं लिखता, भले ही अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए वह किसी विचारधारा के सम्प्रभाव में आ जाए। इसका आशय यह नहीं है कि कोई विचारधारा उसकी पूरक है, बल्कि वह उसके लिए 'परफैक्ट' की ओर आगे बढ़ने के लिए आयाम-मात्र है। यह दूसरी बात है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में भी हमें कई कहानी-लेखक ऐसे मिलेंगे जो 'आधुनिकता' व यथार्थ-बोध के नाम पर सिद्धांत या दर्शन का प्रचार करते हैं। ऐसे लेखकों की तथाकथित संवेदना झूठी प्रतीत होती है, उसका कथ्य आरोपित-सा प्रतीत होता है, ठीक वैसा ही जैसा कि किराए पर लाई गई उस स्त्री का रुदन जो किसी की मौत हो जाने पर गला फाड़कर रोने का तथा दुःखी होने का नाटक करती है। आज का सजग पाठक एवं आलोचक आज के कई कहानी-लेखकों की इस आरोपित संवेदना को अच्छी तरह समझ लेते हैं और इस प्रकार का लेखक कोई विशेष मान्यता प्राप्त नहीं कर सकता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का अध्ययन अब शाश्वतवादी काव्य-शास्त्रज्ञों के सीमित कटघरे में नहीं हो सकता, जिस तरह सन् '50 से पूर्व की कहानियों का मूल्यांकन हुआ करता था। यह कहानी परंपरागत सम्मत चौखटे (अर्थात् कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, देशकाल······आदि) को लांघकर लिखी जाती है। 'आज की कहानी' में अन्य साहित्यिक विधाएं भी समाविष्ट हुई हैं कि उन्हें अब इससे अलगाना कठिन काम बन गया है।[1] इतना ही नहीं, स्वातंत्र्योत्तर

---

1. "······कहानों का रूप इतना विस्तृत हो गया है कि बहुत-से निबन्ध-स्केच और रिपोर्ताज़ भी कहानी की सीमा में घुसे हैं। कभी-कभी इन साहित्य-रूपों की सीमाएं एक-दूसरे के भीतर इस दूर तक चली जाती हैं कि उन्हें अलगाना कठिन हो जाता है। एक ही रचना कभी स्केच है

कहानियों की आधारभूत संवेदना (चरित्र-प्रधान, वातावरण प्रधान··· आदि) प्रधान वाले विशेषणों की पीठिका में नहीं खोजी जा सकती और न ही उसकी परिधि प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों के प्रयोग और शिल्पसम्बन्धी वैशिष्ट्य तक ही परिसीमित की जा सकती है। उदाहरणार्थ व्यतीत कहानी-लेखकों में अप्रत्याशित घटना-क्रम और अविश्वसनीय संयोग चमत्कार के द्वारा कहानी गढ़ने की आदत थी। असंभाव्य घटनाओं के चमत्कारपूर्ण प्रस्तुतीकरण के माध्यम से ये कहानीकार अपनी कहानियों में सुनियोजित 'क्लाइमेक्स' पैदा करते थे और इस प्रकार कहानी उतार-चढ़ाव के बीच गुज़रकर पाठक को रोमांचक 'थ्रिल' का अनुभव कराती थी। परन्तु अब ये चीज़ें 'नये कहानीकार' को मान्य नहीं हैं। नई कहानी के लिए यह कोई शर्त नहीं है कि वह आरम्भ क्लाइमेक्स आदि अवस्थाओं से गुज़रे।

इसका मतलब यह है कि आजकल कथानक की धारणा बिल्कुल बदल गई है। प्रेमचन्द के ज़माने में मनोरंजन, नाटकीय आरम्भ, कुतूहलपूर्ण घटना-संघटन जैसी विशेषताएं कहानियां लिखने के लिए मूल शर्तें थीं, परन्तु अब इन बातों का कहानी में होना आवश्यक नहीं है। अब कहानी में घटना-संघटन इस प्रकार विघटित हो गया है कि उसमें कथानक नाम की कोई चीज़ नहीं है। जीवन का कोई लघु-प्रसंग, मूड या मन:स्थिति ही अब कहानी का कथानक बन जाता है। नाटकीय आरम्भ देकर व्यतीत कहानीकार कहानी में उत्सुकता भर देता था, किन्तु अब इसका कोई महत्त्व नहीं रहा है बल्कि आज के कहानी-समीक्षकों को 'कहानी' में नाटकीयता से चिढ़ है।[1] वे इसको शैल्पिक धोखे के सिवा और कुछ नहीं मानते हैं। आज की कहानी का समीक्षक 'कहानी' के माध्यम से ज़िन्दगी का कोई 'सत्य' चाहता है, धोखा नहीं। इतना ही नहीं, नई कहानी प्रेमचन्द के इस कथन को अस्वीकारती है कि कहानी हमें मनोरंजन प्रदान करे। उसमें अब पहाड़ी सड़क की तरह कदम-

---

और कभी निबन्ध।"

—कहानी : नयी कहानी; डॉ० नामवर सिंह; पृ० 20।

1. "······आज का पाठक कहानियों में नाटक देखते-देखते और झटके बर्दाश्त करते-करते उनका आदी हो चुका है, उसे झटकेदार अन्त वाली कहानियों में अब न तो कोई कौतुक रह गया है और न कहानियों में नाटक देखने के लिए किसी तरह की उत्सुकता······नाटकीयता से शुरू होने वाली हर कहानी को पाठक 'फ्राड' से शुरू होने वाली कहानी मानता है।"

—नयी कहानी : प्रकृति और पाठ; श्री सुरेन्द्र; पृ० 52।

कदम पर उतार-चढ़ाव व आकस्मिक मोड़ नहीं मिलते हैं, बल्कि आधुनिक कहानीकार इन बातों का बहिष्कार करके आधुनिक व्यक्ति के संश्लिष्ट जीवन को दिखाने में चैन लेता है। कभी उसका स्वर व्यक्तिगत होता है, तो कभी समष्टिगत।[1]

नया कहानीकार अपनी अभिव्यक्ति (संवेदना) को पुष्ट एवं प्रभावशाली बनाने के लिए शिल्प के नवीन आयाम ढूंढ़ निकालने में लगा है। पुराने कहानीकारों की तरह वह 'कथ्य' और 'शिल्प' को दो खानों में नहीं बांटता, बल्कि वास्तविकता यह है कि शिल्प और कथ्य को वह 'ऐक्य' मानता है।

संक्षेप में स्वातंत्र्योत्तर कहानीकार का रचनाफलक बहुत ही विस्तृत है। उसने इस युग के समाज की विविध समस्याओं की ओर ध्यान देकर नवीन दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। उसने कुंठाग्रस्त, घुटते और छटपटाते निराशावादियों का चित्रण किया है जो कि साहसपूर्ण विवशताओं से जूझते हुए जीवन व्यतीत करते दिखाए गए हैं।

(3) आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण

वैज्ञानिक उदय के साथ-साथ आधुनिक युग के कहानी-लेखक में जीवन-दृष्टि के प्रति आमूलाग्र परिवर्तन आए हैं। वह बदलती दृष्टि को रचना के स्तर पर अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न कर रहा है। आधुनिकता की इस प्रक्रिया ने नये कहानीकारों में वैज्ञानिक दृष्टि का सूत्रपात किया और यह वैज्ञानिक दृष्टि नयी और पुरानी कहानी के भेद को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है। किसी भी क्षेत्र में किसी भी सत्य को पाने या खोजने के लिए दृष्टि का वैज्ञानिक होना आवश्यक है। इससे लेखक का वस्तु के प्रति आसक्ति-भाव न रहकर एक तटस्थ भाव रह जाता है। राकेश की 'मिस पाल' या यादव की 'खुशबू' में यह तटस्थ दृष्टि सस्ती और सामान्य स्तर की भावुकताप्रधान

---

1. "(आधुनिक) कथाकार व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह करता है। व्यक्ति को सामाजिक परिवेश, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व तथा व्यावहारिक जीवन के तकाजों और आवश्यकताओं की एक संश्लिष्ट प्रक्रिया के रूप में पाना चाहता है। इसलिए नई कहानी में निमित्त या आलम्बन बनकर नहीं, स्वयं आश्रय का विषय-वस्तु बनकर आता है। इसमें बदलते हुए जीवन को पकड़ने एवं व्यक्त करने का ज़ोरदार प्रयत्न है।"

—हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल; डॉ० जयकिशन प्रसाद खंडेलवाल; पृ० 294-95।

कहानियां होने से बचाती है। इस तरह आज के कहानीकार का व्यक्तित्व अपने पात्र से पृथक् है और यह पृथक्ता उसको पुराने कहानी-लेखक से अलग कर देती है।[1]

इसी वैज्ञानिक दृष्टि के कारण आज का कहानीकार भावुक बनकर रोने-हंसने का उपक्रम नहीं करता। उसका कथन है कि भावुक बनकर जीवन के भयावह एवं यातनामय संदर्भों का सामना नहीं किया जा सकता। उसके अनुसार भावुकता वहां नहीं मिलती जहां टूटने-जुड़ने की संभावना विद्यमान न हो। ऐसी स्थिति को भोगने और जीने की 'संवेदनशीलता' उसका स्थान ले लेती है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी भावुकता की नहीं, इसी 'संवेदनशीलता की कहानी है। आज का लेखक पुराने कहानीकारों की तरह भावुकता की आड़ में आकर रोना या सिर पीटना उचित नहीं समझता। वह अपनी स्थिति और नियति को भोगना चाहता है, समझना चाहता है। स्थिति को स्थिति की ही तरह स्वीकार कर लेने का साहस आज की कहानी का स्वर है।

नई कहानी के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को तथा पुरानी कहानी के भाव-बोध का अन्तर जान लेने में कोई कठिनाई नहीं होती है। यशपाल की कहानी 'बारह घंटे' आंसुओं की कहानी है, उसका शायद ही कोई ऐसा पृष्ठ होगा जो आंसुओं से भीगा न हो। इसके मुकाबिले में उषा प्रियंवदा की कहानी 'वापसी', जो कि एक रिटायर्ड व्यक्ति के अकेलेपन की कहानी है, आंसुओं की बाढ़ से मुक्त है। रिटायर्ड गजाधर बाबू घर वापस आकर खप न सका। घर का अकेलापन उसको फिर प्राइवेट नौकरी करने के लिए मजबूर करता है किन्तु घर से उसकी वापसी पर किसी सदस्य की आंख में आंसू की एक बूंद तक नहीं। दूसरी ओर द्विजेन्द्रनाथ मिश्र की कहानी 'निर्गुण' आंसुओं की कहानी है जो कि आज के पाठक एवं आलोचक को शायद उतना प्रभावित नहीं कर सकती, जितना कि उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कर सकती है।

---

1 "प्राचीन 'कहानी' का रचनाकार जहां अपने 'भोक्ता' को अपने से पृथक् नहीं कर पाता था, वहीं आधुनिक कहानी की रचनात्मक प्रक्रिया रचनाकार के व्यक्तित्व की पृथक्ता के एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर ही सार्थक हो पाती है।"

—हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया; डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव; पृ० 305।

इस तरह नये 'कहानीकारों को पुराने कहानी-लेखकों की संवेदना मान्य नहीं है। उन्हें इनकी संवेदनशीलता सस्ती और नाटकीय लगती है। अब कहानी-लेखक का जीवन के प्रति दृष्टिकोण भावनात्मक न होकर बौद्धिक है जिससे उसकी रचना यथार्थपरक हो गयी है। यह जीवन की छोटी-छोटी अनुभूतियों में विराट सवेदनाओं को संकेतित करती है।

बौद्धिकता के अतिरेक के कारण कहानी में दुरुहता आई है और इस प्रकार कहानी सहज सम्प्रेषित होने में कभी-कभी बाधा आती है। वास्तव में आज का कहानी-लेखक युग की जटिलताओं एवं संश्लिष्टताओं को रूपायित करने के लिए दुरुह एवं अस्पष्ट प्रयोग करता है।

(4) यथार्थ-बोध एवं अनुभव की प्रामाणिकता

यथार्थ के गहरे बोध तथा अनुभव की प्रामाणिकता ने कहानी एव विषय को वहुत बदल दिया है। यथार्थ के समीप आकर ही आज की कहानी पुरानी कहानी से अलग होती है। यह यथार्थ अनुभूतिपरक है जो हमें मानव तथा उसकी परिस्थिति के ठीक समीप रखता है। यह यथार्थ-बोध वह अनुभव है जो विशेष मानवीय परिस्थिति में लक्षित होने वाले सम्बन्धों को ठीक-ठीक समझने की दृष्टि देता है। यथार्थ की पकड़ ही कहानी के अभीष्ट प्रभाव को अर्थपूर्ण बना देती है और इस अर्थ में आज की कहानी व्यतीत कहानी से अलग होती है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या व्यतीत लेखक जीवन तथा परिस्थितियों का अनुभव करके नहीं लिखता था?—हां, वह करता था किन्तु उसकी अभिव्यक्ति इससे अलग हटकर होती थी। उदाहरणार्थ कहानी-सम्राट प्रेमचन्द ने भी कहानियों का 'प्लॉट' यथार्थ की भूमि पर ही गढ़ा किन्तु वे आगे जाकर उस यथार्थ पर आदर्शवाद का पर्दा डालते थे और इस प्रकार उनकी कहानियां सुधारवादी दृष्टिकोण को लेकर शार्ट-कट पर आ जाती थीं। 'पूस की रात' और 'कफ़न' जैसी कहानियां इसका अपवाद हो सकती हैं। इतना ही नहीं, पुराने कहानीकार का कहानी गढ़ने का ढंग भी निराला था। उसको कहानी लिखने के लिए एक 'हिंट' या 'आइडिया' चाहिए था और उसी के अनुरूप वह अपनी कल्पना से चरित्र, परिस्थितियों और नाटकीय सम्बन्धों का निर्माण करता था। इस तरह यह लेखक यथार्थ नहीं यथार्थ के नाम पर 'आइडिया' या विचार-सूत्र प्रस्तुत करता था जो कि किसी भी तरह प्रामाणिक नहीं था।

ये बातें आज के कहानीकार को मान्य नहीं हैं। कहानी लिखने से पूर्व ही कहानी-लेखक के पास एक अनुभूत यथार्थ (मैटर) होता है तथा वह सीधे

इस मैटर को छूकर उसकी 'फीलिंग' पाठक तक पहुंचाना चाहता है। इस प्रकार वह अनुभव जो हमारे सामने रखता है, यह यथार्थ-परक होता है, काल्पनिक नहीं। लेखक का अनुभव वह हो सकता है जिसे स्वयं उसने देखा-परखा हो या दूसरों का भी हो सकता है जो उसने निकट से देखा हो।[1] आज का कहानीकार चाहे अपना अनुभव बताए या किसी और का, अनुभव की प्रामाणिकता उसकी एक महत्त्वपूर्ण शर्त है।

प्राचीन कहानी में जो झूठ (कल्पना, संयोग······आदि) जोड़ दिया जाता था वह आज के कहानी-लेखक को मान्य नहीं है। उसके लिए झूठ बोलना कहानी का वरदान-सा था, किन्तु अब लेखक के लिए अनुभूत सच बोलना एक अभिन्न गुण एवं अनिवार्य प्रतिबद्धता है।[2] वह यथार्थ के प्रति इतना जागरूक है कि वह भोगे हुए जीवन की अभिव्यक्ति करने के लिए यथार्थपरक कहानियां लिखता है; यथार्थवादी कहानियां नहीं। कहना न होगा कि यथार्थ पाठक को रचनाकार के जीवानुभवों से परिचित कराता है जबकि यथार्थवाद कला और साहित्य में यथार्थ के आग्रह पर बल देने के लिए दार्शनिक मतवाद है। नए कहानीकार ने भोगे हुए यथार्थ और जीवनानुभवों से सम्बन्धित यथार्थ को संप्रेषित किया।

आधुनिक कहानीकार की यथार्थपरक अनुभूति हमें बहुत भीतर तक छीलती-कुरेदती है। यह हमें समसामयिक जीवन-संदर्भों को एक विस्तृत ऐतिहासिक परिदृश्य के बीच देखने की क्षमता प्रदान करती है। स्वातंत्र्योत्तर कहानी-लेखक अपने परिवेश की समस्याओं के प्रति विशेष जागरूक है। अनावश्यक शब्दावली का तिरस्कार करके वह यथार्थ-चेतना के सभी स्तरों को एक सहज भूमि पर रखने का प्रयत्न करता है।

यथार्थ-बोध और अनुभव की प्रामाणिकता की बात करके इसका यह आशय न लिया जाए कि नितान्त वैयक्तिक अनुभूति से आज का कहानी-

---

1. " 'अनुभव की प्रामाणिकता' को भी बहुत-कुछ गलत अर्थों में समझा गया है। उसमें व्यक्ति-लेखक का अपना अनुभव तो सम्मिलित है ही, पर यह अनुभव औरों का भी है, हमारे समय के अनुभव की प्रामाणिकता से ही इसका तात्पर्य है, जिसका कि लेखक स्वयं एक अंग है।"
—नयी कहानी की भूमिका; कमलेश्वर; पृ० 146।
2. "(पुरानी कहानी में) जिन्दगी से ऊपर होकर सब कुछ सोचा-समझा ही कहा गया है और दूसरे में जो कुछ सोचना-समझना है वह ज़िन्दगी की राह गुज़र रहा है।"
—नयी कहानी : प्रकृति और पाठ—श्री सुरेन्द्र; पृ० 99।

लेखक जिस सत्य को या यथार्थ को प्रकट करता है, वह शुद्ध व्यक्तिवादी है। यों तो अनुभूति की प्रक्रिया नितान्त वैयक्तिक होती है लेकिन इसके बावजूद आज का कहानी-लेखक व्यक्तिवादी होकर भी दूसरों के संदर्भों से जुड़ता रहता है। वह जीवन का, उसके यथार्थ का, व्यक्ति और समाज का साक्षी है।[1]

इस प्रकार पुराने कथाकारों की रचना-प्रकृति अनेक से एक की या विस्तार से संकुचन की ओर रही है जबकि आज का कहानी-लेखक बौद्धिक-स्तर पर होते हुए क्षणों को कभी एक से अनेक की ओर या कभी विस्तार से संकुचन की ओर लेता है।

(5) सांकेतिकता

सांकेतिकता का प्रयोग स्वतंत्रता से बहुत पूर्व प्रेमचन्द एवं प्रसाद ने किया था। प्रेमचन्द के अपने वक्तव्यों में तथा उनकी और 'प्रसाद' की कहानियों में इसके प्रमाण मौजूद हैं। 'पूस की रात', 'कफन', 'पुरस्कार', 'आकाशद्वीप', 'उसने कहा था' आदि जैसी कहानियां सांकेतिक अर्थवत्ता का श्रेष्ठ उपयोग करने वाली कहानियां हैं। इसी प्रकार यशपाल तथा 'अज्ञेय' की कहानियों में भी सांकेतिकता के उदाहरण मौजूद हैं।

पुरानी कहानी और आधुनिक कहानी की सांकेतिकता का स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। व्यतीत कहानी में इसका उपयोग कथा के प्रसाधन में हुआ करता था किन्तु अब इसके द्वारा संश्लिष्ट जीवन परिवेश और ध्वस्त संकुल जीवन को दर्शाया जाता है। इस प्रकार यह अब साहित्य की स्वाभाविक एवं अनिवार्य स्वीकृति है। आधुनिक कहानीकार पूर्व की तरह कभी-कभी ही नहीं, बल्कि अब उसकी सम्पूर्ण कहानी का रूपगठन और शब्द-गठन ही सांकेतिक है।[2] पहले की तरह आज की कहानी 'आधारभूत विचार' को केवल अन्त में संकेत नहीं करती, बल्कि स्थान-स्थान पर हमें इसमें संकेत मिलते हैं।

---

1. "……आज का कथाकार अपने अनुभव को पहले टटोलता है और उसके माध्यम से तमाम समस्याओं, प्रश्नों (या अप्रश्नों) को ढूंढ़ता और झेलता है। (पुराने कहानीकार)……का एप्रोच और अन्त लिजलिजी भावुकता में और दूसरे का एप्रोच भावप्रवण पर अन्त एक शक्तिशाली बौद्धिक सम्भावना में—ग्राफ के कर्व शायद इस स्थिति के आसपास होंगे।"
   —नयी कहानी : दशा, दिशा, सम्भावना; पृ० 254।
2. "नयी कहानी संकेत करती नहीं, बल्कि संकेत है।"
   —कहानी : नयी कहानी : डॉ० नामवर सिंह; पृ० 42।

पुरानी कहानी की अपेक्षा सांकेतिकता' आधुनिक कहानी की अभिन्न अंग बन गई है।[1] उसमें पूरे तौर पर तो संकेत होते ही हैं, साथ ही वह अलग-अलग स्तरों पर भी संकेत देती है।

सांकेतिकता उचित उद्देश्य से कहानी में हो, तो लेखक अनावश्यक ब्यौरे से बच सकता है और पाठक के समक्ष कहानी का मर्म अनायास ही दीप्त हो सकता है। आधुनिक कहानियों का अध्ययन-विश्लेषण करने से यह बात स्पष्ट होती है कि कहीं-कहीं संकेत इसको दुर्बोध बनाता है। वस्तुत: ये दुरुह संकेत आज के संश्लिष्ट जीवन तथा व्यक्ति को द्योतित करता है। सांकेतिकता अब कहानी का अभिन्न अंग है। आज का कहानीकार इसका प्रयोग प्रसाधन के लिए नहीं, बल्कि आवश्यकता के लिए करता है। इस कथन में अब उतना वजन नहीं दिखाई देता कि आज की कहानी में जो दुरुह संकेत होते हैं वे चेतना और गहरे स्तरों को छूने में असमर्थ रही है। वास्तविकता यह है कि सांकेतिकता के माध्यम से आज का कहानीकार युग की संश्लिष्टताओं को दिखाने में समर्थ है, व्यक्ति-मन और परिवेश में जो विरोध है, उसे संकेतों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार की कहानी पाठक के हृदय-पटल पर बहुत देर तक अंकित रहती है।

आज का लेखक स्वयं तटस्थ रहकर अपनी कहानी को विशेष संकेत की दिशा में मोड़ता है। आज की श्रेष्ठ सांकेतिक कहानियों में ऐसी वस्तुभेदी दृष्टि दिखाई देती है जो वस्तु को ही नहीं उसकी प्रतिक्रियाओं को भी मूल-स्रोत तक जाकर देखने की तीव्र प्रेरणा देती है।[2]

---

1. "......नए कथाकार को आदेश देने, लेखक की हैसियत से 'सीधे बात' करने, कथा में अतिरिक्त 'नाटकीयता का आयोजन' करने आदि जैसी सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं.....पुराने कथाकार को यह सुविधाएं प्राप्त थीं ......असल में, इन सुविधाओं का उपयोग 'नया कहानीकार' कथा में करना भी नहीं चाहता, इसलिए कि इन्हें वह नए कथा-शिल्पबोध के समानान्तर नहीं पाता और इसलिए भी कि आधुनिक वस्तुबोध के सम्प्रेषण माध्यम के रूप में वह अपना अर्थ खो चुकी है......।"
   —नयी कहानी : प्रकृति और पाठ; श्री सुरेन्द्र; पृ० 78।
2. "आधुनिक रचनाकार के भीतर एक प्रकार के मानसिक प्रत्यावर्त्तन की समस्या बराबर बनी रहती है। सांकेतिकता अर्थवत्ता के द्वारा ही वह अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में इस समस्या का समाधान प्राप्त करती हे।"
   —नयी कहानी की रचना-प्रक्रिया; डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव; पृ० 281।

(6) प्रतीक योजना एवं बिम्ब विधान

प्रतीकों का प्रयोग साहित्य मे प्राचीन काल से ही चला आया है। हिन्दी साहित्य में आदिकाल से अब तक इसका प्रयोग होता रहा है। आजकल साहित्य की अन्य विधाओं की तरह 'कहानी' में भी प्रतीकों का बहुत प्रयोग हो रहा है। हिन्दी कहानी-साहित्य में अब तो प्रतीक-व्यंजना अपने स्वतंत्र रूप में प्रचलित हो गई है।

पुरानी कहानी तथा आज की कहानी में प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों की स्पष्ट विभाजन-रेखा खींची जा सकती है। पुराना कहानीकार किसी स्थल-विशेष पर ही इसका आश्रय लेता था और उसका प्रतीक इतना सरल एवं स्पष्ट होता था कि वह स्वत: बोधगम्य होता था। किन्तु अब सभ्यता एवं विज्ञान की उन्नति से हमारा जीवन जटिल से जटिलतर होता जा रहा है। आज का कहानी-लेखक प्रतीकों का प्रयोग द्रुतगति से कर रहा है और ये भी जटिल से जटिलतर होते जा रहे हैं। पुराने प्रतीकों की व्यंजना भावात्मक होती थी किन्तु अब प्रतीक-योजना का क्षेत्र-विस्तार हुआ है और अब इसका बहुमुखी प्रयोग हो रहा है।[1] आज हिन्दी कहानी में प्रतीक-योजना मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर उन्मुख हो रही है। नवीन प्रतीकों के अन्वेषण और उपयोग द्वारा आज के कहानीकार ने स्थिति को अनदेखी गहराई तथा नयी व्याख्या दी।

उदाहरण के तौर पर 'मछलियां' की ये पंक्तियां देखते हैं, "......मैंने एक नाटक देखा था जो बहुत पसंद आया। 'छोटी मछली, बड़ी मछली', जिसमें बड़ी मछली छोटी मछलियों को निगलती रहती है। तब से कभी-कभी सोचती हूं कि क्या छोटी मछली उलटकर वार भी नहीं कर सकती।"[2] इन पंक्तियों में मछलियों की अर्थवत्ता मत्स्य-जीवन की न रहकर, कहानी-पात्र

---

1. "आज का कहानीकार अवचेतन, अर्द्ध-चेतन, दिवा-स्वप्नों, अर्द्ध-चेतन प्रतीकों, वैज्ञानिक एवं मनो-वैज्ञानिक संकेतों के प्रतीकात्मक प्रयोगों द्वारा अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियां कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त कर रहा है। वह अपने मन की विकृतियों और कुंठाओं का विश्लेषण करते हुए भी तटस्थ रहता है।"
   —आधुनिक कहानी का परिपार्श्व; डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; पृ० 120-121।
2. मछलियां—उषा प्रियंवदा (दे० एक दुनिया : समानान्तर; राजेन्द्र यादव; पृ० 95)।

के जीवन की अर्थवत्ता हो जाती है। इन पंक्तियों में जो प्रतीक उपस्थित होता है उसी के अर्थ से सारी कहानी सप्राण हो जाती है। इसी तरह श्रीकांत वर्मा की कहानी 'झाड़ी' में प्रतीक के माध्यम से ही पूरी कहानी अर्थमयी हो जाती है। कहानी का प्रमुख पात्र 'वह' बचपन में झाड़ी फांद नहीं सका था। हारकर उसने अपने एक समवयस्क से स्वयं को उठाकर उसके पार फेंक देने के लिए कहा था। वह कभी भी झाड़ी पार नहीं कर सका। हारकर उसने अपने एक हमजोली से कहा कि वह उसे उस ओर फेंक दे। एक बार डर दूर हो जाने पर हमेशा के लिए जाता रहेगा। जब उसने उसे फेंक दिया तो उसने पाया कि वह झाड़ी में जा पड़ा था और कांटों से उसका शरीर छिल गया था। प्रतीक के माध्यम से यह एक ऐसे व्यक्ति की कहानी हो जाती है जो जीवन की संश्लिष्टता एवं जटिलता में फंसकर अपने आपको तन एवं मन से छीलता एवं मात करता हुआ पाता है। इसी प्रकार राजेन्द्र यादव की कहानी 'प्रश्न-वाचक पेड़' में प्रश्नवाचक पेड़ जीवन और प्रकृति के गहरे असंतुलन या असंगति को संप्रेषित करता है। कमलेश्वर की कहानी 'खोई हुई दिशाएं' और मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' जैसी कहानियां प्रतीकों के प्रयोग द्वारा ही विशिष्ट रचनाएं बन सकी हैं।

इस तरह आज के युग की जटिल वास्तविकता की संवेदना को रूपायित करने के लिए प्रतीक-योजना का सफल प्रयोग किया गया है किन्तु दूसरी ओर इसके अपने प्रयोगगत जबरदस्त खतरे भी हैं। यदि प्रतीक का दुरुपयोग किया जाता है, तो प्रतीक-संयोजन उस दशा में अर्थहीन हो जाता है। ऐसी भूल सिद्धहस्त एवं संयमी कथाकार के यहां भी ज़रा सी चूक करने से हो सकती है। दरअसल प्रतीक तब ही अर्थहीन हो जाता है जब लेखक इन्हें स्वयं में लक्ष्य मान लेता है।[1] आवश्यक और उचित यही है कि प्रतीकों को साध्य न मान लिया जाए। सत्यान्वेषण के सूक्ष्म स्तरों के उद्घाटन के लिए इसे साधन मान लेना ही उचित है। इसलिए अज्ञेय ने लिखा है, "महत्त्व या मूल्य प्रतीक का या प्रतीक में नहीं होता, वह उससे मिलने वाली अनुभूति की गुणात्मकता में होता है।"[2] आज के कई कहानीकारों में प्रतीक विधान की सही दिशा का बोध है।

---

1. प्रतीक साधन हों या साध्य ?—इस सिलसिले में आलोचकों की दो विभिन्न धारणाएं हैं। कई आलोचक प्रतीकों को साधन मानते हैं और कुछ दूसरे साध्य। वास्तव में "प्रतीक की अलग से अपनी कोई स्वतंत्र नियति और हैसियत नहीं होती, स्वतंत्र होते हुए भी अन्ततः वह कथा की अन्विति के साथ जुड़ी हुई होती है, इसी को उभारा जाए, बस प्रतीक

यदि प्रतीक लेखक की बिखरी हुई अनुभूतियों को एक केन्द्रीय दिशा देते हैं तो बिम्ब किसी अमूर्त्त अनुभव को मूर्त्तता और सजीवता प्रदान करते हैं। बिम्ब उस अनुभूति की गहनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें हम एवं लेखक प्रवेश नहीं कर पाते।[1] बिम्बों से विचारों में मूर्तग्राह्यता आती है। आज का कहानीकार युग की मनोवैज्ञानिक स्थितियों की जटिलता को व्यक्त करने के लिए बिम्बों के अर्थपूर्ण उपयोग पर अधिक बल देता है। बिम्ब वस्तुत: आधुनिक युग की कलात्मक अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम हो गया है। आधुनिक कहानीकार के लिए 'बिम्ब' उसके शिल्प का अंग बन गया है। इसके जरिए वह युग की घटनाओं, स्थितियों, भावनाओं, संवेदनाओं और विचारों के जटिल चित्र उपस्थित करता है। बिम्बों का अर्थपूर्ण प्रयोग करने वाले आधुनिक कहानीकारों में निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, रामकुमार, कमलेश्वर, शिवप्रसाद सिंह, कृष्णा सोबती, दूधनाथ सिंह तथा ऐसे ही दूसरे कहानीकार प्रमुख हैं।

बिम्ब-रचना की प्रक्रिया पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि यह कठिन रचनात्मक संकल्प है। इसका प्रयोग ग़लत हो जाए, तो परिणाम अनुचित होता है। इसका खतरनाक रास्ता है जिस पर बेहद फिसलन है। यह ठीक है कि कुछ प्रबुद्ध कथाकारों ने वस्तु-अर्थ को बारीकी से खोलने के लिए इससे सहायता ली है, जिससे आज की कहानी को प्रेषण-शक्ति की क्षमता मिली है, किन्तु इसके ग़लत प्रयोग से कहानी जीवन से दूर भाग जाने का डर रहता है, और पाठक का कहानी-साहित्य के प्रति विश्वास कम होने लगता है तथा कहानी की यथार्थ पकड़ कमज़ोर हो जाती है।

(ख) उपसंहार : स्वातंत्र्योत्तर कहानी—महत्त्व, उपलब्धियां एवं नवीन सम्भावनाएं

(1) महत्त्व

लगभग पिछले अड़तीस वर्षों से स्वातंत्र्योत्तर कहानी भिन्न-भिन्न आयामों से गुज़रकर विकसित हो रही है। अनुभव एवं शिल्प के धरातल पर

की इतनी सी ही सार्थकता है......।''

—नयी कहानी : प्रकृति और पाठ; श्री सुरेन्द्र; पृ० 78-79।

1. हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया; डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव; पृ० 283।
2. ''......सच मेमोरीज मे हेव सिम्बॉलिक वैल्यु बट वी केन नॉट टेल फार दे कम टु रिप्रिजेन्ट डप्थस आफ फीलिंग इनटु विच वी केन नॉट वियर।''

—सेलेक्टेड प्रोज : टी० एस० ईलियट; पृ० 95।

इसमें समय-समय पर कई महत्त्वपूर्ण प्रयोग भी हुए हैं। प्राय: कथा-दशक के बदल जाने पर या कहानी-यात्रा के मोड़ को सूचित करने के लिए कहानीकारों एवं आलोचकों ने इन्हें विविध नामों से अभिहित किया है, जैसे नई कहानी', 'आंचलिक कहानी', 'अ-कहानी', 'सचेतन कहानी', 'समांतर कहानी', 'समकालीन कहानी' आदि। 'हिन्दी कहानी' को आगे भी नवीन नाम मिल सकते हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी को चाहे हम एक नाम से पुकारें या दूसरे नाम से, अन्ततः वह 'कहानी' ही है। यों तो पैंतीस-चालीस वर्ष साहित्य के किसी दृष्टिकोण को पनपने के लिए बहुत काफी नहीं माने जा सकते। हिन्दी कहानी के क्षेत्र में स्वातंत्र्योत्तर काल में नामकरणों की जो जल्दबाज़ी हुई है, उससे कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ या दृष्टिकोण का अर्थसंकोच हुआ है। वैसे इस नामकरण के पीछे जो पृष्ठभूमि काम करती आई है, वह है, पीढ़ियों का पारस्परिक संघर्ष। आजादी के बाद प्रत्येक अनुवर्त्ती पीढ़ी ने कथा-जगत् में अपने आपको स्थापित करने के लिए अपनी पूर्ववर्त्ती पीढ़ी से मानसिक एवं कलात्मक स्तर पर संघर्ष किया है। जिस प्रकार 'नई कहानी' के रचनाकारों ने व्यतीत कहानीकारों पर आरोप करके अपनी वकालत आप ही की, ठीक उसी प्रकार साठोत्तरी कहानीकारों ने नई कहानी के रचियताओं को तिरस्कृत करके अपने आपको हर लिहाज़ से श्रेष्ठ कहलाने का दावा किया। पीढ़ियों के इस संघर्ष के पीछे मनोवैज्ञानिक सत्य है।

स्वातंत्र्योत्तर कहानी की इस विशिष्ट धारा को भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित करने का यह अर्थ भी निकलता है कि आज का युग द्रुतगति से बदलता जा रहा है। युगीन संवेदनशीलता, मान-मूल्यों आदि में इतनी जल्दी से परिवर्तन आ रहे हैं कि हर नई व्यवस्था के जन्म के साथ ही उसके ह्रास के चिन्ह दिखाई देते हैं। ठीक यही बात 'हिन्दी कहानी' पर भी लागू हो सकती है। इस प्रकार कह सकते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी के साहित्य में इन पच्चीस वर्षों के अन्तराल में जो मोड़ आए हैं, जिन नवीन नामों का निर्माण हुआ है, वह युग-सापेक्ष है और यह उनके जीवन्तता का लक्षण माना जा सकता है। अत: स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कहानी के विभिन्न नामकरण एवं उसमें होने वाले महत्त्वपूर्ण मोड़ इसके विकास को द्योतित करते हैं।

हिन्दी कहानी-साहित्य के क्षेत्र में कई गुट ऐसे हैं जो कि अपना निजी अस्तित्व बनाए रखने के लिए नए भाव-बोध की कहानी का परिचय अपने दिए गए नामों तथा सांचों से देना चाहते हैं। इसी प्रकार आलोचकों के भी विरोधी दल बने हैं। प्रत्येक दल अपने आपको दूसरों की अपेक्षा स्वस्थ, श्रेष्ठ,

प्रेरक एवं नवीन समझता है। इसका परिणाम यह निकला है कि दृष्टिकोण की नवीनता की अपेक्षा हमारे सम्मुख नवीन दल आए हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति हिन्दी कहानी के विकास के लिए अस्वस्थ है।

आज़ादी के बाद हिन्दी कहानी के क्षेत्र में वस्तु, शिल्प एवं संवेदना का जो एकदम नयापन दिखाई दिया, उसके पीछे युगीन विभिन्न परिस्थितियों की प्रेरणा थी। दूसरे शब्दों में, यह नयापन समय के भाव-बोध का परिणाम था। इस नएपन के पीछे पश्चिम की नवीन चिन्तन-पद्धतियों का भी योग रहा, जिसे कई अंशों में अस्वस्थ नहीं माना जा सकता है। विज्ञान की उन्नति एवं यातायात के सुगम साधनों ने पूर्व एवं पश्चिम के अन्तर को पाट लिया है। बम्बई एवं दिल्ली में रहने वाले लोगों की निराशा, व्यथा, विसंगति लन्दन में निवास करने वाले लोगों से मिल नहीं सकती। इस प्रकार 'नई कहानी' में विसंगति, व्यथा, पीड़ा, निराशा, संत्रास, दरार, तनाव आदि की जो स्थितियां हैं, वे युग-सापेक्ष हैं। मगर कहीं-कहीं पश्चिम का अनुकरण ठीक दिशा में नहीं हुआ है। कई कहानियों में पात्रादि तो भारतीय परिवेश के लगते हैं, किन्तु ऐसी रचनाएं मूलतः पश्चिमी परिवेश की हैं। वास्तव में इस प्रकार की रचनाएं एक जागरूक पाठक को संवेदनशील नहीं बना पाती हैं और न ही ज्यादा देर तक ऐसे कहानीकार टिक सकते हैं। यहां इस बात का उल्लेख करना असंगत न होगा कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में जिन कहानियों का अध्ययन हुआ है, उनमें पश्चिम के चिन्तन का कहीं भी अन्धानुकरण नहीं हुआ है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में देश की विभिन्न परिस्थितियां एक-सी नहीं रहीं। आजादी प्राप्त करने के बाद सन् '60 तक ये परिस्थितियां लगभग एक-सी रहीं। अतः इस समय तक स्वातंत्र्योत्तर कहानियों की संवेदनशीलता भी प्रायः एक जैसी थीम को लेकर चली। सन् '60 के बाद देश की विभिन्न परिस्थितियों ने और भी विकट रूप धारण कर लिया। भारतवासियों ने आजादी से पूर्व स्वतंत्र स्वर्णिम भारत की जो तस्वीर परिकल्पित की थी, वह स्वातंत्र्योत्तर काल में कुछ देर तक रही, किन्तु सन् '60 के बाद देश की विभिन्न परिस्थितियों ने और भी विकट रूप धारण कर लिया। अब सामान्य लोगों का वह स्वर्णिम भारत उनके सम्मुख विकट यथार्थ भारत के रूप में आया और उनका मोहभंग हुआ। इन बदलती परिस्थितियों के कारण छठे दशक और साठोत्तरी कहानियों का बोध एक-सा नहीं रहा। किन्तु जिस आमूलाग्र परिवर्तन का अनुभव हम स्वातंत्र्यपूर्व और स्वातंत्र्योत्तर कहानी-साहित्य के बीच करते हैं, वह छठे दशक और साठोत्तरी दशक की कहानियों के बीच नहीं है। वहां समग्र जीवन-दृष्टि में ही फर्क पड़ गया था, जबकि यहां

एक ही बोध की स्तरात्मक मात्रा का फर्क है। छठे और साठोत्तरी दशकों की कहानी-साहित्य का अनुभव-जगत् भी प्रायः एक ही है, इसलिए थीम के लिहाज से छटे दशक की कई रचनाएं एवं साठोत्तरी हिन्दी कहानी एक-दूसरे के समीप रखी जा सकती हैं। फिर भी 'नयी कहानी' एवं 'साठोत्तरी कहानी' को एक ही लाठी से हांका नहीं जा सकता। दोनों में अन्तर दृष्टिकोण का न होकर दृष्टि को पचाकर व्यक्त करने का है।

हिन्दी की स्वातंत्र्योत्तर कहानी ने निश्चित रूप से नए युग की सृष्टि की है। इसमें संक्रान्ति की चेतना का स्वर सर्वाधिक तीव्र है। इसके अंतर्गत प्रत्येक परंपरा का तिरस्कार, प्रयोगशीलता, वैज्ञानिक दृष्टि के कारण बौद्धिक संश्लिष्टता आदि को तो एक ओर समाविष्ट किया गया है, तो दूसरी ओर आज के आदमी को युग का संत्रास, दरार, तनाव आदि की स्थितियां झेलने की क्षमता भी है। स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर कहानी ने आज के विघटित जीवन के प्रति अपना तीव्र क्षोभ प्रकट किया है। 'नयी कहानी' और विशेषकर समकालीन कहानी, ने आज के क्रूर एवं विकृत जीवन को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। 'नयी कहानी' के रचनाकारों ने जिस नवीन दृष्टि तथा संवेदना को लेकर अपनी कहानियों में नवीन प्रयोग किए, उत्तरकाल में इसका विकास होता रहा। चाहे हम इसे 'सचेतन कहानी' या 'अकहानी' कहें, या 'समांतर कहानी' या और कोई नाम दें, वह अन्ततः कहानी ही है—नए भाव-बोध की कहानी। इसलिए कह सकते हैं कि साठोत्तरी कहानी भी नयी कहानी का ही प्रकारान्तर है। वह उसी का रचनात्मक मोड़ है।

स्वातंत्र्योत्तर 'हिन्दी-कहानी' का यह सौभाग्य है कि आए दुए ठहराव तथा पारस्परिक दल-बन्दियों के बावजूद यह विकासोन्मुख होती रही है।

(2) उपलब्धियां एवं नवीन सम्भावनायें

यह बात बड़े अधिकार के साथ कही जा सकती है कि कुल मिलाकर स्वातंत्र्योत्तर कहानी की महान् उपलब्धियां हैं। इसने आज के मनुष्य की समस्याओं, उसके प्रश्नों-अप्रश्नों, बदलते मूल्यों आदि पर प्रामाणिक अनुभूति के आधार पर इसका चित्रण किया है। यों तो साठ से पूर्व तथा साठोत्तरी साहित्यकारों की कहानी-सम्बन्धी अलग-अलग धारणाएं रही हैं। उनके जीवन-संदर्भ भी अलग-अलग रहे हैं। इस अलगाव का कारण समय की अलग-अलग मानसिकता है। दोनों ने रोमानी जीवन-बोध से मुक्त होने का प्रयत्न किया है, किन्तु प्रथम दशक में इस मुक्ति की कामना में कहीं-न-कहीं संस्कारगत लगाव स्थापित ज़रूर रहा है। साठोत्तरी कहानीकारों में यह द्विविधा

प्राय: कम नज़र आती है। सन् '60 से पूर्व के कहानीकारों के सामने अतीत की एक लम्बी परंपरा एवं जीवन-मूल्यों के संस्कारों की जड़े बहुत दूर तक मानस में समा गई थीं। अत: इन साहित्यकारों को पुराने संस्कारों एवं परंपरा से मुक्त होने की ज़बरदस्त छटपटाहट थी। यहीं से हमें व्यतीत कहानी एवं नवीन कहानी का अन्तर दिखाई देता है। चूंकि 'नई कहानी का समय 'संक्रान्ति-काल' था, इसलिए नए भाव-बोध की इस कहानी को ऐसी स्थितियों और संघर्षों से गुजरना पड़ा कि इसे परम्परा से मुक्त होकर अपने आपको प्रस्थापित करने के लिए लगभग एक दशक की अवधि लग गई। दूसरे शब्दों में सन् '60 से पूर्व के कहानीकारों को नए-पुराने के संघर्ष से गुज़रना पड़ा है और इसलिए ये लेखक परंपरा से पूर्णत: मुक्त भी नहीं हो पाए हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि 'नई कहानी' की उपलब्धि को सन् '60 तक नहीं समझा गया। यह अजीब बात है कि सन् '50 से आरम्भ होने वाली 'नई कहानी, सन् '60 के बाद प्रतिष्ठित होकर आलोचकों, लेखकों एवं पाठकों द्वारा मान्य हुई। सन् '60 नई कहानी के लिए वह समय था जबकि इसका साहित्य काफी समृद्ध हो चुका था। अब साठोत्तरी कहानीकार-आलोचकों को 'नई कहानी' समय-सापेक्षता के कुछ पीछे दिखाई देने लगी थी। यह विलम्ब इसलिए महसूस किया गया क्योंकि दस-बारह वर्षों की अल्पावधि में ही समय का मिज़ाज़, मूल्य, आदर्श, परिस्थितियां आदि में परिवर्तन महसूस किया। कहना न होगा कि 'अ-कहानी' एवं 'सचेतन कहानी' 'समांतर कहानी' आदि इसी बदलते परिणाम की उपज हैं। नई कहानी के विरुद्ध जब नए आंदोलन शुरू हुए, तब ही इनकी उपलब्धियों एवं सीमाओं का ज्ञान होने लगा। साठोत्तरी कहानीकारों ने नई कहानी पर कई प्रश्न-चिन्ह लगाये, जिसमें कुछ वास्तविकता तो थी और साथ-ही-साथ अपनी पूर्ववर्त्ती पीढ़ी को तिरस्कृत करके वे अपने आपको प्रस्थापित करने का प्रयत्न भी कर रहे थे। इसके बावजूद 'नई कहानी' की परंपरा अपने परिवर्द्धित एवं विकसित रूप में हमारे सम्मुख अब भी आ रही है। फिर भी यहां 'नई कहानी' की कई सीमाओं की ओर संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

नई कहानी के रचनाकारों ने अपने नएपन की अत्यधिक व्याख्या की, जिससे इसमें रूढ़ि-जड़ता एवं ऊब पैदा हो गई। उसके अन्तिम चरण में नयी कहानी का एक पैटर्न बनने लगा। "वैयक्तिक सामाजिकता की दुहाई देने वाली नई कहानी निरे रूमानी अतिरेक और अतिशय अर्थहीन आवृत्तियों के कारण मात्र नारेबाजी को ही सर्जनात्मक लेखन समझने लगी।"[1] बदलती

1. समकालीन कहानी का बदलता हुआ मिजाज : प्रसन्न कुमार ओझा,

जीवन स्थितियों को झेल न सकने की वजह से इसमें एक नवीन प्रकार की पलायनवादिता आई और यह कहीं-कहीं वास्तविकता से दूर की चीज़ दिखाई दी।

कई कहानीकारों ने निराशा, व्यथा, विसंगति, मृत्युबोध, संत्रास जैसी गम्भीर एवं जटिल अनुभूतियों पर कहानियां लिखीं। अस्तित्ववाद की मान्यताओं का उन्होंने अनुकरण-मात्र ही किया। ऐसी कहानियों में भारतीय-परिवेश और जीवन-संदर्भों की सच्चाई बिल्कुल ही नहीं दिखाई देती। दूसरे शब्दों में, ऐसी कहानियों का सृजनात्मक स्तर आरोपित-सा जान पड़ता है। मात्र वैचारिक स्तर पर संत्रास की अभिव्यक्ति कहानी को फार्मूला-बद्ध बना देती है और कहीं-कहीं हुआ भी यही है। ऐसी कहानियों पर आधुनिकता का मुलम्मा मात्र चढ़ा हुआ दिखाई देता है और इनकी संवेदना पाठकों तक सहज ही सम्प्रेषित नहीं होती। लेकिन इसका कदापि यह मतलब न लिया जाए कि सन् '60 से पूर्व की कहानियों का महत्त्व उपेक्षणीय है। पहले हीं कहा जा चुका है कि कहानी को यथार्थ के समीप लाने के लिए और उसे नवीन दृष्टि देने के लिए नई कहानी के रचनाकारों ने जो क्रान्तिकारी काम किया, वह इनकी महत्त्वपूर्ण देन है।

उधर साठोत्तरी कहानीकारों के मानसिक एवं ऐतिहासिक संदर्भ कुछ निराले थे। इनमें से बहुत से कहानीकार जीवन के साथ किसी पूर्वनिर्धारित धारणाबद्ध एवं पूर्वाग्रहों से प्रतिबद्ध नहीं थे, बल्कि इस पीढ़ी का अपने जीवन से जैविक सम्बन्ध रहा है। जीवन की कटु वास्तविकताओं से सम्बद्ध रहकर ये कहानीकार रोमानियत से मुक्त रहे हैं। स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों की यह वह पीढ़ी है जिन्होंने आजादी से पूर्व भारतीय जीवन की यातनाओं को झेला नहीं था और न ही उन्हें मोहभंग की स्थिति का अनुभव करना पड़ा था, जिसे सन् '60 के पूर्व के हिन्दी कहानीकार जी चुके थे। यही पीढ़ी समकालीन जीवन की बहुस्तरीय अराजकता में जी रही है। इसके मुकाबिले में नए कहानीकारों ने जीवन को यातनाओं को झेला, केवल बौद्धिक स्तर तक। परिणामत: साठोत्तरी कहानीकारों में 'नई कहानी' के रचनाकारों की अपेक्षा अनुभव की प्रामाणिकता अधिक है।

इस प्रकार साठोत्तरी कहानीकारों ने आज के जिस टूटे, ऊबे एवं निराश व्यक्ति को दिखाया है, वह निष्क्रियक नहीं है वह इस अव्यवस्था एवं अराजकता

दे० संचेतना, मार्च 1970; पृ० 182।

में भी जी रहा है, जीना चाहता है। 'नई कहानी' का नायक अपने परिवेश से कटकर दिशाहीन एवं दिग्भ्रमित भी दिखाई देता है, जबकि साठोत्तरी कहानीकार का नायक जीवन की विभीषिका से आतंकित तो है किन्तु वह उससे पलायन नहीं कर गया है या अपने परिवेश से कटकर किसी भयंकर धुंध में खोया नहीं है। इस प्रकार समकालीन कहानी पूर्वाग्रह रहित दृष्टि से यथार्थ जीवन से सीधे टकराती है। नवीन जीवन-मूल्य, प्रश्न-अप्रश्न, नवीन जीवन-दृष्टियां आदि अब कहानी पर आरोपित न होकर उसकी मानसिकता का अंग बन चुकी हैं। अत: कहा जा सकता है कि नई कहानी भिन्न-भिन्न आयामों से गुजरती हुई ठीक दिशा की ओर जाने में दत्तचित्त है।

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर कहानी का विकास एवं प्रसार होता जा रहा है। इसके भविष्य के प्रति निश्चित आशाएं बंध रही हैं और कई सम्भावनाएं उभर रही हैं। यह सही है कि सन् '60 के बाद कई कथा-आन्दोलन चले जिन्होंने जल्दबाज़ी में कुछ फ़तवे जारी किए। तब लगा था कि स्वातंत्र्योत्तर कहानी ठीक दिशा की ओर नहीं जा रही है। किन्तु यह बात बहुत जल्द ही खत्म हो गई और अब कहानी आधुनिक जीवन के साक्षात्कार को रचना के स्तर पर रूपायित करने के प्रयासों में लग गई है। आज की हिन्दी कहानी को देखकर लगता है कि अब इसका निर्माण यथार्थ की बुनियाद पर होता है, इसलिए इसका शिल्प भी यथार्थ की उपज है। हिन्दी कहानी के विषय एवं शिल्प एक-दूसरे के इतना समीप आए हैं कि उन्हें अब अलग-अलग अवयवों में काटकर नहीं देखा जा सकता। चूंकि आज का जीवन द्रुतगति से बदलता हुआ संश्लिष्ट से संश्लिष्टतर होता जा रहा है, जीवन में सामाजिक संस्थाओं और मानवीय सम्बन्धों के बीच कई उलझे हुए प्रश्न निर्माण हो रहे हैं, उसी तरह 'कहानी' की प्रकृति एवं प्रवृति संश्लिष्ट से संश्लिष्टतर होती हुई द्रुतगति से बदलती जा रही है। आज के कहानीकार ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से समय की स्थितियों को पहचाना है और वह अपनी पहचान को रचना-विस्तार के कलात्मक सांचे में ढालने के लिए प्रयत्नशील है।

आज का व्यक्ति किसी भी व्यवस्था के प्रति आस्थावान नहीं है। वह अपनी पहचान की तलाश में है। व्यक्ति की इस जटिल खोज की प्रक्रिया को समकालीन कहानी-रचना में घटित करना चाहती है।[1] आज की हिन्दी कहानी

---

1. "इसकी न कोई सीमा है न पंथ, न रास्ता है न दिशा—यहां न कुछ श्लील है न अश्लील। न कोई ग्राह्य है न अग्राह्य। न अच्छा है न बुरा। न शिव है न अशिव, न कुत्सित है न सुन्दर। यहां जो कुछ है वह

पुराने बाने को तोड़कर नए 'फार्म' की तलाश में है। दूसरे शब्दों में आज की हिन्दी कहानी में पुरानी कहानीपरकता दिखाई नहीं देती। उदाहरणार्थ हिन्दी कहानी में जो ऊलजलूलपन (आब्सर्डिटी) आया है, वह आज के संश्लिष्ट वैज्ञानिक जीवन की उपज है। युग के 'आब्सर्ड' व्यक्ति की तरह आज की कथा का विन्यास, उसका कथोपकथन आदि बाहरी तौर पर असम्बद्ध दिखाई देता है। इस प्रकार आज की कहानी यथास्थिति के अत्यन्त समीप आती जा रही हैं। लगता है कि इसमें, "अनुभव का घनीभूत स्फुरण है। आत्मबोध की अभिव्यक्ति है और कथात्मकता से परे है।"[1] आत्मबोध की अभिव्यक्ति केवल वैयक्तिक तनाव की सीमाओं तक ही कैद नहीं रही है, बल्कि इसमें समकालीन जीवन की विसगतियों आदि के क्षोभ का भी चित्रण है।

इन कहानियों में जो दुनिया उभर रही है, उसमें रहने वाला व्यक्ति किसी भी व्यवस्था का गुलाम नहीं है। वह भूत से पूर्णत कटा हुआ है और भविष्य के सुनहले सपनों पर उसने अपनी दृष्टि केन्द्रित नहीं की है। वह वर्तमान की वास्तविक स्थितियों से जूझता हुआ जीवन की विसंगतियों एवं वडम्बनाओं का भागीदार बन गया है। वह किसी भी प्रकार की नारेबाज़ी अथवा घोषणावाज़ी से मुक्त है। आज का व्यक्ति अपने लिए अपनी दुनिया चाहता है। जब उसका वर्तमान का एक-एक क्षण झेलना दुष्कर है, ऐसे में वह भविष्य के स्वर्णिम कुहासे में कहां से कूद सकता है ?

इस प्रकार आज कहानीकार यथार्थ और अपने विलक्षण वर्तमान के सामने रूह-ब-रू खड़ा है, जिसका सूक्ष्म तथा सही चित्रण करने की कोशिश में वह लगा हुआ है। इसका कारण यह है कि कहानी की आत्मा अब 'यथार्थ' पर आधारित है। यथार्थ उसके लिए कोई 'पोज़' अथवा दिखावा न होकर समय की उचित मांग है।[2] आज की कहानी सही आदमी की तलाश

मनुष्य ही है—और मनुष्य के आदिम या असल रूप की उपज ही समकालीन कहानी की मूल संवेदना एवं स्वर है।"

—समकालीन कहानी और संक्रमणशील जीवन स्थितियां : विश्वेश्वर; दे० राष्ट्रवाणी, नवम्बर 1969; पृ० 44।

1. 'कहानियां जो भी हों, उनके प्रश्न और उत्तर नए हैं' : कमलेश्वर; दे० राष्ट्रवाणी, दिसम्बर '69; पृ० 6।
2. "इनके लिए यथार्थ एक सिद्धांत या दर्शन नहीं, अनुभव, संज्ञा और एप्रोच है जो पूरी भाषा, बनावट और अभिव्यक्ति में उजागर होता

में है । वह पुरानी रचनात्मकता को तोड़कर ऐसे यथार्थ को खोज रही है जो कि समयानुकूल हो । इसके लिए आज के कहानीकार को अभिव्यक्ति के उचित एवं सशक्त माध्यम की खोज करनी पड़ रही है और यह खोज निरंतर जारी है । आशा है कि हिन्दी कहानी का रचनाकार आगे 'कहानी' का सही मुहावरा खोजने में और सफलताएं प्राप्त करेगा ।

कहानी पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर नवीनतम हस्ताक्षर सामने आते रहते हैं । कभी-कभी इनके नाम इतने अपरिचित एवं नवीन होते हैं कि उनके नाम तक याद नहीं रहते । अब हिन्दी कहानी नवें दशक के अन्तिम चरणों में है और आए दिन कहानीकारों के नवीन हस्ताक्षर सामने आ रहे हैं । इसके अतिरिक्त हिन्दी के वे हस्ताक्षर जिन्होंने कहानी-लेखन में ख्याति प्राप्त की है, उनमें से कई इस प्रकार हैं : जितेन्द्र भाटिया, इब्राहिम शरीफ, सिम्मी हर्षिता, मणि मधुकर, सुधा अरोड़ा, कामतानाथ, मेहरुन्निसा परवेज़, रमेश उपाध्याय, राकेश वत्स, निर्मला ठाकुर, सोमेश्वर, श्रवण कुमार, प्रेम कासलीवाल, कृष्ण भावुक, प्रणवकुमार, सत्येन कुमार, हृदयेश आदि । इधर जम्मू-कश्मीर के जिन कहानीकारों ने हिन्दी कहानी को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उनमें से वेदराही, उषा व्यास, छत्रपाल, डॉ० अयूब 'प्रेमी', हरिकृष्ण कौल, बदरुन्निसा, डॉ० सोमनाथ कौल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । नवें दशक के अन्तिम चरणों में पहुंचकर हिन्दी कहानी का विकास एवं विस्तार निरन्तर हो रहा है । आशा है कि यह ठीक दिशा की ओर विकसित होती रहेगी तथा युवा-लेखकों के हाथों इसका भविष्य सुरक्षित होगा ।

है । कथ्य की आंतरिकता की पद्धति उसी अभिव्यक्ति में ही बोलती है ।''

—राष्ट्रवाणी, अप्रैल-मई '70; पृ० 46 ।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

(क) आलोचनात्मक ग्रन्थ

1. अवस्थी, (डॉ०) देवीशंकर : नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति, अक्षर प्रकाशन, प्रा० लि०, दिल्ली-6 ।
2. अश्क, उपेन्द्रनाथ : संकेत (संपादन), नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग ।
3. कमलेश्वर : नई कहानी की भूमिका, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली ।
4. कौल, (डॉ०) सोमनाथ : जम्मू-कश्मीर का कथांचल, एस० चन्द एंड कम्पनी, दिल्ली ।
5. खंडेलवाल, (डॉ०) जयकिशन प्रसाद : हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा ।
6. गौतम, (डॉ०) लक्ष्मणदत्त : आधुनिक हिन्दी-कहानी में प्रगति-चेतना, कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली-7 ।
7. चतुर्वेदी, (डॉ०) रामस्वरूप : हिन्दी नवलेखन, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, वाराणसी ।
8. चौहान, (डॉ०) शिवदान सिंह : हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली ।
9. ठाकुर, (डॉ०) देवेश : हिन्दी कहानी का विकास, मीनाक्षी प्रकाशन, नई दिल्ली ।
10. दिनकर, (डॉ०) रामधारी सिंह : शुद्ध कविता की खोज, उदयांचल प्रकाशन, पटना-16 ।
11. (डॉ०) नागेन्द्र : आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली ।
12. प्रेमचन्द : कुछ विचार, सरस्वती प्रेस, बनारस ।
13. भटनागर, (डॉ०) महेन्द्र : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य (सम्पादन), नवभारती सहकार प्रकाशन, दिल्ली-7 ।

14. मदान, (डॉ०) इन्द्रनाथ : हिन्दी कहानी : अपनी जबानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

15. मिश्र, (डॉ०) रामदरश : हिन्दी कहानी : दो दशक की यात्रा (संपादन), नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली ।

16. मिश्र, शिवकुमार : प्रगतिवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

17. मोहन, (डा०) नरेन्द्र : समकालीन कहानी की पहचान, प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली ।

18. यादव, राजेन्द्र : (1) एक दुनिया : समानान्तर, अक्षर प्रकाशन, प्रा० लि०, दिल्ली-6 । (2) कहानी : स्वरूप एवं संवेदना, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली ।

19. रस्तोगी, (डा०) गिरीश : हिन्दी कहानी : सिद्धांत और विवेचन, रतन प्रकाशन मंदिर, आगरा ।

20. (डा०) राजानन्द : संवेदना के विम्ब, सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर ।

21. लवानिया, रमेशचन्द्र : हिन्दी कहानी में जीवन-मूल्य, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद ।

22. लाल, (डा०) लक्ष्मीनारायण : हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद ।

23. वार्ष्णेय, (डा०) रघुवर दयाल : हिन्दी कहानी : बदलते प्रतिमान, पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली ।

24. वार्ष्णेय, (डा०) लक्ष्मीसागर : आधुनिक कहानी का परिपार्श्व, इलाहाबाद प्रकाशन ।

25. (डा०) विनय : समकालीन कहानी : समांतर कहानी, मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया, दिल्ली ।

26. विमल, (डा०) गंगा प्रसाद : समकालीन कहानी का रचना-विधान, सुषमा पुस्तकालय कृष्णा नगर, दिल्ली ।

27. शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद : कहानी का रचना-विधान, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।

28. श्रीवास्तव, (डा०) परमानन्द : हिन्दी कहानी की रचना-प्रक्रिया, ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर ।

29. सिंह, (डा०) नामवर : कहानी : नई कहानी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

30. सिंहा, (डा०) सुरेश : हिन्दी कहानी : उद्‌भव और विकास, अशोक प्रकाशन, दिल्ली-6 ।

31. सुरेन्द्र : नई कहानी : प्रकृति और पाठ, परिवेश प्रकाशन, जयपुर ।

(ख) उपस्कारक ग्रन्थ (हिन्दी)

1. 'अज्ञेय' : 1. अमरवल्लरी और अन्य कहानियां, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली । 2. ये तेरे प्रतिरूप, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।

2. कमलेश्वर : 1. खोई हुई दिशाएं, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी । 2. मांस का दरिया, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली । 3. मेरी प्रिय कहानियां, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली-6 ।

3. कृष्णचन्दर : अन्नदाता, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।

4. किशोर, गिरिराज : पेपरवेट, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।

5. कौल, सोमनाथ : जम्मू-कश्मीर का कथांचल, एस० चन्द एंड कम्पनी, दिल्ली ।

6. कौल, हरिकृष्ण : इस हमाम में, प्रतिभा प्रकाशन, श्रीनगर ।

7. ज्ञानरंजन : फेन्स के इधर और उधर, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली ।

8. प्रियंवदा, उषा : 1. एक कोई दूसरा, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली । 2. ज़िन्दगी और गुलाब के फूल, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।

9. भारती, धर्मवीर : चांद और टूटे हुए लोग, किताब महल, इलाहाबाद ।

10. भंडारी : 1. एक प्लेट सैलाब, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली । 2. यही सच है, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली ।

11. मटियानी, शैलेश : 1. मेरी तैंतीस कहानियां, आत्मा राम एंड सन्स, दिल्ली । 2. मेरी प्रिय कहानियां, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली ।

12. मेहता, नरेश : तथापि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी ।

13. यशपाल : फूलों का कुर्त्ता, विप्लव कार्यालय, लखनऊ ।

14. यादव, राजेन्द्र : 1. खेल-खिलौने, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन। 2. टूटना, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली। 3. मेरी प्रिय कहानियां, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली।

15. राकेश, मोहन : 1. एक और ज़िन्दगी, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली। 2. एक और दुनिया, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली। 3. क्वार्टर, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली। 4. मेरी प्रिय कहानियां—उपरिवत्। 5. नए बादल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

16. राय अमृत : अभियोग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

17. रेणु, फणीश्वरनाथ : 1. आदिम रात्रि की महक, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली। 2. ठुमरी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। 3. रसप्रिया, आलोचना पुस्तक परिवार, दिल्ली।

18. वर्मा, निर्मल : 1. परिन्दे, पीपुल्ज़ पब्लिकेशन हाऊस, दिल्ली। 2. पिछली गर्मियों में, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। 3. मेरी प्रिय कहानियां, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली-6।

19. वर्मा, श्रीकांत : झाड़ी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी।

20. सिंह, काशीनाथ : लोग बिस्तरों पर, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद।

21. सिंह, दूधनाथ : सपाट चेहरे वाला आदमी, अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली।

22. सिंह, महीप : घिराव, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली-6।

23. सिंह, शिवप्रसाद : कर्मनाशा की हार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी।

लेखक परिचय
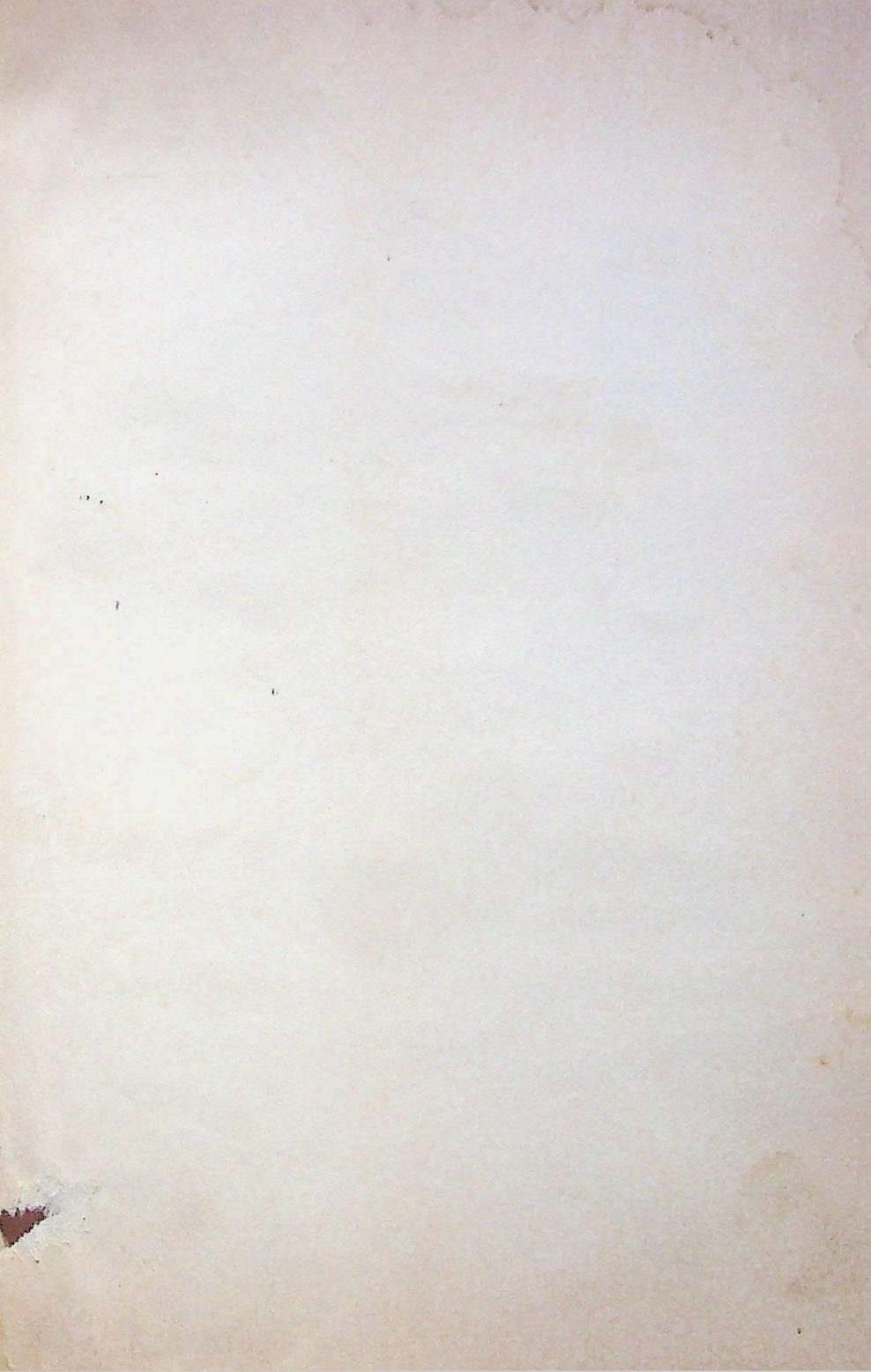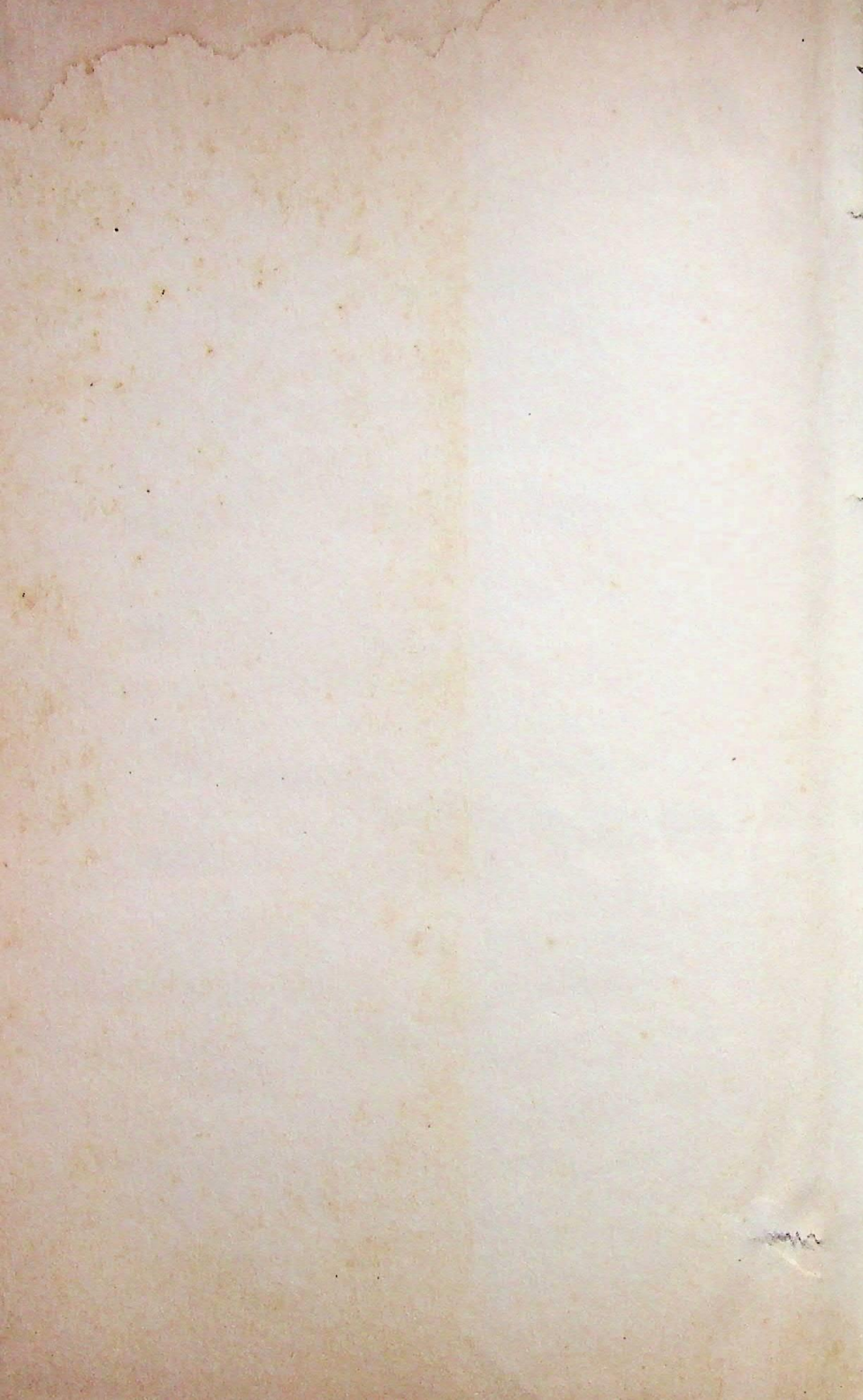
डॉ० सोमनाथ कौल

जन्म : बालहामा, श्रीनगर, कशमीर।

शिक्षा : एम०ए० (हिन्दी); बी०एड०, पी०एच०डी० (कशमीर विश्वविद्यालय), निष्णात (केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा)।

विशेषज्ञता : कहानी, भाषा-विज्ञान तथा कोषविज्ञान।

अन्य प्रकाशन : (1) जम्मू-कश्मीर का कथांचल प्रकाशक : एस चांन्द एंड कम्पनी, रामनगर, दिल्ली।

(2) 'आंचलिका' सह-सम्पादन।

(3) 'हिमांचलिका' सह-सम्पादन।

(4) 'वितस्ता के नए चरण' (आर्य बुक डिपो, दिल्ली। 'वितस्वा के कथाचरण' तथा 'वितस्ता के वातायन' में कहानी तथा भाषा विज्ञान सम्बन्धी शोध-लेख प्रकाशित।

(5) 'वितस्ता' (श्रीनगर) शीराजा (जम्मू), हमारा साहित्य (जम्मू), कादम्बिनी दिल्ली), स्वर्परजत (कलकत्ता), 'नीलजा' (श्रीनगर) 'अनहार' (श्रीनगर), भाषा (दिल्ली), धर्मयुग (बम्बई) आदि में कवितायें, कहानियां तथा शोध-लेख प्रकाशित।

रगमंच कर्मी : कश्मीर में अपने ही लिखित नाटक 'सेर्‌य प्यट्‌य सोलाब' (बाढ़ सिर से ऊपर) का सफल मंचन तथा अभिनय करने पर पुरस्कृत।

संप्रति : रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर (कश्मीर)।